निबन्ध-साहित्य की प्रमुख समस्याएँ

लेखक
डा० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी
एम. ए., पी-एच. डी , डी. लिट्.

प्रकाशक
साहित्य निकेतन, कानपुर

निबन्ध-साहित्य की प्रमुख समस्याएँ

लेखक

डा० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
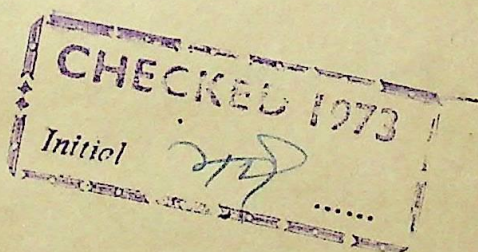
प्र का श क

साहित्य निकेतन, कानपुर

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
श्रद्धानन्द पार्क, कानपुर
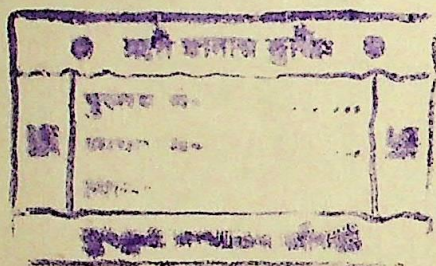
प्रथम संस्करण : १९६४
मूल्य ३·५०

मुद्रक
हिन्दुस्थान प्रिंटिंग प्रेस
हॉस्पिटल रोड, परेड, कानपुर

आमुख

प्रस्तुत प्रयास के द्वारा उन कतिपय समस्याओं पर एक बार पुनः प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है जो हिन्दी-साहित्य के निबन्ध-जगत में विशेष महत्त्व प्राप्त कर चुकी हैं।

आशा है पाठकगण इस कृति की सहायता से हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का आनन्द अल्प समय में ही प्राप्त कर सकेंगे।

मैंने इस पुस्तक के निर्माण में अनेक पुस्तकों की सामग्री का उपयोग किया है, अस्तु उन समस्त लेखकों का आभारी हूँ जिन्होंने अपने विशाल ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवा की है।

पुस्तक का लक्ष्य बहुजनहिताय होने के कारण इसमें मौलिकता-प्रदर्शन यथासम्भव कम से कम ही किया गया है।

यदि यह पुस्तक पाठकों का लेशमात्र भी अनुरंजन कर सकी तो समझूँगा कि मेरा प्रयास सफल है।

१-१-१९६४ **अम्बिका प्रसाद बाजपेयी**

अनुक्रमणिका.

❖ ❖ ❖

समर्पण

परमविद्यानुरागी, त्यागमूर्ति, उदारचेता

विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार

उपकुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

को

सादर समर्पित

१. प्रकृति और काव्य

प्रकृति शब्द के अर्थ अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार से किए गए हैं किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में प्रकृति को दृश्य जगत् का प्रधान रूप माना गया है। प्रकृति से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। मानव ने समस्त क्रियाकलापों को प्रकृति की गोद में बैठकर सीखा है। वह माता के तुल्य हमारी रक्षा करती है और धाय के समान सुश्रूषा। प्रकृति की गोद में पलने वाला चेतन जगत ही भौतिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुआ है। इस प्रकार बाह्य एवं आन्तरिक दो भेदों के आधार पर प्रकृति के दो विभाग भी किए जा सकते हैं। काव्य में प्रकृति के दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं।

यदि सौन्दर्य और उसकी अनुभूति को ही काव्य का प्राण मान लें तो काव्य में सौन्दर्य का सृजन करने वाली प्रकृति की ओर हमारा आकर्षण और अधिक बढ़ेगा। अनुभूति के साथ ही काव्य को सजीव बनाने के लिए अभिव्यक्ति का आधार भी लेना पड़ेगा। अलङ्कार, ध्वनि, रीति एवं रस सभी अभिव्यक्ति की कुशलता पर निर्भर हैं। वर्ड्सवर्थ का काव्य को स्वाभाविक भावों का सशक्त प्रवाह मानना तथा हैज़लिट का कल्पना और वासना की भाषा को काव्य स्वीकार करना भी अभिव्यक्ति की कुशलता को ही महत्त्व प्रदान करता है।

हिन्दी काव्य में प्रकृति को अनेक परिधानों से सुसज्जित किया गया है। कहीं वह आलम्बन का रूप धारण करती है तो कहीं उद्दीपन का। इन दोनों रूपों में प्रकृति सुन्दरी का अपूर्व अलङ्करण किया गया है। आलम्बन के अन्तर्गत प्रकृति-नायिका के विविध चित्रों में कल्पना का जो मनोरम रूप मिलता है उसके समक्ष अन्य सभी चित्र फीके प्रतीत होते हैं। उस रूप में प्रकृति सजीव एवं सशक्त रूप में हमारे सामने प्रगट होती है। वह अपने क्रियाकलापों के द्वारा मानवमन को हरती है। मानव जब प्रकृति में प्रेयसी का रूप देखता है तब उसे उसमें आत्मीयता का भाव दृष्टिगोचर होता है। वह उसके प्रत्येक कम्पन एवं सिहरन में मादकता का दृश्य देखता है। वही प्रकृति-सुन्दरी उसके सुख स्वप्नों को साकार बनाती है। जीवन के प्रत्येक

क्षेत्र में वह उसे प्रेरणा प्रदान करने लगती है। परिणाम यह होता है कि मानव समस्त सौन्दर्य-दर्शन से विमुख होकर प्रकृति-सुन्दरी का शृङ्गार देख-देख कर विमुग्ध हो जाता है। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रणों के लिए कवि में पर्याप्त कौशल की आवश्यकता होती है। सामान्य कवि प्रकृति के मात्र उपकरणों की अप्रस्तुत योजना करने में ही सफलता नहीं पाते अतः उनके द्वारा आलम्बन रूप में प्रस्तुत प्रकृति के चित्र आकर्षक नहीं होते। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य में इस शैली का अनुसरण प्रायः नहीं के बराबर किया गया है। तथापि इसका अभाव नहीं है। कविवर चिन्तामणि वर्षा को नवेली नायिका के रूप में देखते हैं। उनका वर्णन अत्यन्त मनोरम है :—

ओढ़े नील सारी घन घटाकारी 'चिंतामनि',
कंचुकी किनारी चारुचपल सुहाई है।
इंद्रबधू जुगुनू जवाहिर की जगाजोति,
बाग मुकतानि माल कैसी छबि छाई है।।
लाल पीत सेतबर बादर बसन तन,
बोलत सु भृंगी धुनि नूपुर बजाई है।
देखिबे को मोहन नवल नट नागर को,
बरषा नवेली अलबेली बनि आई है।।

इसकी अपेक्षा उद्दीपन रूप में प्रकृति का प्रयोग करना अपेक्षाकृत अधिक सरल है। संयोग और वियोग के क्षणों में प्रकृति के नाना उपकरण मानव के मन में सुख और दुख के भाव उत्पन्न करते हैं। मानव मन संवेदन-शील होता है। तुषार मण्डित धवल पर्वत श्रेणियों को देखकर उसका मन प्रसन्न हो जाता है तथा बालुकामय मरुस्थल को देखकर उसके मन में विषादमय नीरसता का जन्म होता है।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण हिन्दी के प्राचीन कवियों ने विशेष रूप से किया है। शृङ्गार रस के दोनों पक्षों का सम्यक् निर्वाह प्रकृति-सुन्दरी के उद्दीपक स्वरूपों की सहायता से हो जाता है। इस प्रकार के स्थलों में कवि-कल्पना के लिए सुन्दर अवसर प्राप्त होता है। समस्त प्रकृति की तुलना एक सुन्दरी नायिका से करते हुए जहाँ अधिकांश पाश्चात्य (अंग्रेज़ी के) कवि अपना मनोरञ्जन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं वहीं पर हिन्दी के कवि उसके द्वारा अपने मन की भावनाओं के उत्थान-पतन की

कल्पना करते हैं। प्रकृति का सहयोग पाकर मानव का अवचेतन मन अपने भावों को समुचित उत्कर्ष प्रदान करता है।

ब्रजभाषा के अमर कवियों ने नायिकाओं के विरह का वर्णन अत्यन्त कौशल के साथ किया है। उन प्रसङ्गों में एकमात्र प्रकृति ही उनके जीवन की रक्षा करती है। इसके साथ ही वह उनके मन में प्रेम की गुदगुदी उत्पन्न करके प्रेम की वल्लरी को हराभरा भी रखती है। कहीं-कहीं पर वह उनके साथ अत्याचार भी करती है। उनकी असहायावस्था में केवल उनके कान्त ही उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकते दीख पड़ते हैं किन्तु उनके दूरस्थित होने के कारण नायिकाएँ पछाड़ खा खाकर गिरती हैं और आँसुओं की धाराएँ प्रवाहित करके पृथ्वी को गीला बनाती हैं। उदाहरण के रूप में कवियों के काव्य से उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

'सेनापति' की विरह विदग्ध नायिका वर्षाकाल में कामोद्दीपित होकर अपना समय काटने में असमर्थ दीख पड़ती है। प्रियागमन की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही वह पीतवर्ण वाली हो रही है। साथ ही उसका आन्तरिक उत्साह भी मन्द हो गया है। वह नायक से मिलने की अभिलाषा से व्याकुल है। बेचारी अकेली पड़ी रहती है, मेघों को देखकर डरती है और मृत्यु के घाट लगने ही वाली है। यथा :—

नीके हो निठुर कंत मन लै पधारे अंत,
मैंन मयमंत कैसे बासर बराह हौं।
आसरौ अवधि कौ सो अवध्यौ बितीत गई,
दिन-दिन पीत भई रही मुरझाइ हौं॥
'सेनापति' प्रानपति साँची हौं कहति एक,
पाइकै तिहारे पाँव प्रानन को पाइहौं।
इकली डरी हौं वन देखि कै डरी हौं खाइ,
विष की डरी हौं घनस्याम मरिजाइहौं॥

मेघ का उद्दीपक प्रभाव देखना हो तो "रघुराज" कवि की नायिका के कथन की मार्मिकता का रसास्वाद कीजिए :—

मरज बढ़ावै महा दुर्जन फरज बाँधै, काज न करत वधू कारज सों आनै री।
चरज न जानै हिय दरज दुरावै हाय, बरज न सीखै सभय प्रीतम पयानै री॥
भनै 'रघुराज' अबै अरज सुनै ना नैक, बिरही परज पर जन अनुमानै री।
तरज न जानै और दरज न जानै नैक, गरज न जानै मेघ गरजन जानै री॥

'सेष' कवि की नायिका पावसकालीन समस्त प्राकृतिक-उपकरणों से उद्दीपन का अनुभव करती है। उसे मोर का शब्द, पिक की वाणी, चातक की रट, जुगनू की चमक तथा झिल्ली की झनकार आदि में एक विशेष प्रकार का भय उत्पन्न होता है। झरनों से झरते हुए नीर के शीतल प्रभाव से उसका शरीर काँपता है, मदन उसको प्राणान्तक पीड़ा देता है, दादुर उसका अन्त किए देता है, मेघ उसको दबाते हुए आते हैं तथा दामिनी उसको नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए सन्नद्ध है यथा:—

मोरन के सोर सुनि पिक की पुकार तैसी,
चातक चिकार सुनि सूनी स्याम यामिनी।
जुगुनू जमक देखि झिल्ली की झनक लेखि,
भयसों बिसेष 'सेष' डरै गज गामिनी।
झरन झरत नीर कंपत सरीर एरी बालम,
बिदेस धीर धरै कैसे कामिनी।
मारे डारै मदन मरोरै डारै दादुर ये,
दाबै आवै बादर दबाए आवै दामिनी॥

बसन्त ऋतु के मादक प्रभाव से विरहिणियों का विरह उद्दीप्त हो जाता है। ग्वाल कवि की विरहिणी नायिका कृष्ण के पास सन्देश भेजती है कि आपके बिना हमारा जीवन ही निरर्थक है। इन्द्र अपने पुरातन बैर का बदला चुकाना चाहता है, और इसके लिए उसने आपकी अनुपस्थिति को देखकर उपयुक्त अवसर पा लिया है अतः वह अपना कोप हम ब्रजबालाओं पर प्रगट कर रहा है। समय का ऐसा विपरीत प्रभाव है कि मलय-पवन के झोंके जो संयोग के समय सुख की वृद्धि करते थे अब दुःख दे रहे हैं। सरिताओं के दुकूल अब पीड़ा उत्पन्न करने लगे हैं। यह बसन्त विरहाग्नि में डालकर हमारे शरीर को जला रहा है यथा :—

ऊधौ ! ये सूधौ सौ संदेसौ कहि दीजे जाय,
स्याम सों सिताबी तुम बिन सरसंत है।
कोप पुरहूत कैं बचाई वारि धारन तें,
तिनपै कलंकी चंद बिष बरसंत है॥
'ग्वाल कवि' सीतल समीर जे सुखद हीते,
बेधत निसंक तीर पीर परसंत है।
जेह विपनागिन तें बरत बचाई तिन्हैं,
पारि बिरहागिन में बारत बसंत है॥

प्रकृति संयोग की पृष्ठ भूमि भी बन जाती है। कविवर सेनापति बसन्त ऋतु के नैसर्गिक उपकरणों को नायक-नायिका के प्रेम विवर्धन का साधन मानते हैं। उन्होंने एक ऐसा चित्र भी प्रस्तुत किया है जहाँ पर नायक-नायिका बसन्त ऋतु के मादक स्पर्शों से पुलकित होकर दाम्पत्य प्रेम में नित्य नवीनता के साथ संलग्न होते हैं। मधुमास के सुप्रभात में प्रातःकालीन सुरभित एवं सुखद समीर का पान करते हुए नायक और नायिका वाटिका विहार में संलग्न होते हैं यथा :—

सरस सुधारी राज मंदिर में फुलवारी,
मोर करै सोर गान कोकिल बिराव के।
'सेनापति' सुखद समीर है सुगंध मंद,
हरत सुरत स्रम सीकर सुभाव के॥
प्यारौ अनुकूल कोहू करत करन फूल,
कोहू सीसफूल पाँवड़ेऊ मृदु पाँव के॥
चैत में प्रभात साथ प्यारी अलसात लाल,
जात मुसकात फूल बीनत गुलाब के॥

प्रकृति के परिवर्तनों से अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर मानव रंगरेलियों में प्रवृत्त होने लगता है। मानव की रंगरेलियों के अन्तराल में छिपी हुई प्रेरणा तो नैसर्गिक होती हैं परन्तु उस प्रेरणा को कार्यान्वित करने की परिपाटी में कृत्रिमता का अनिवार्य समावेश होता है। इस कृत्रिमता में ही कवि को काव्य रचना की सामग्री प्राप्त होती है। काव्य में इस प्रकार के कल्पना चित्र प्रभूत आकर्षण से युक्त होते हैं। ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए 'पद्माकर' द्वारा नायक-नायिका के विलास से सम्बन्धित वातावरण का चित्रण कितना मनोहर है :—

फहरै फुहार नीर नहर नदी सी बहै
छहरैं छबीन छाम छींटन की छाटी है।
कहैं 'पद्माकर' त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ
पावै क्यों प्रवेस बेस बेलिन की बाटी है॥
बारहदरीन बीच पार हू तरफ तैसी
बरफ बिछाई ता पै सीतल सु पाटी है।
गजक अंगूर की अंगूर सों उचौहैं कुच
आसव अंगूर कौ अंगूर ही की टाटी है॥

निदाघ के घातक प्रभाव से बचने के लिए अनेक ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जिनका संग्रह करना भी साधारण कार्य नहीं है। उस पर भी मृगाक्षी नायिका की उपस्थिति से ग्रीष्म की उष्णता का निवारण पूर्ण रूप से हो जाता है। 'ग्वाल कवि' की सूक्ष्म कल्पना कितनी मनोरञ्जक है :—

ग्रीषम न त्रास जाके पास ये बिलास होंय
खस के अवास पर गुलाब उछर्‌यौ करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के बरक भरे
पेठे पाक केवरे में बरफ पर्‌यौ करै॥
'ग्वाल कवि' चंदन चहत में कपूर पूर
चंदन अतर तर बसन खस्यौ करै।
कंजुमुखी कंजनैनी कंज के बिछौनन पै
कंजन की पंखी कर कंज सों कर्‌यौ करै॥

कवियों ने प्रकृति के सहारे अलङ्कारों को सजीवता प्रदान की है। अलङ्कारों में कल्पना का समावेश भाव में अत्यधिक चमत्कार देता है। प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करके कल्पना के मनोरम चित्रों का निर्माण किया जा सकता है। इस दिशा में हिन्दी कवियों के प्रयत्न सराहनीय हैं। सामान्य जगत के वातावरण में रहते हुए भी कवियों ने प्रकृति को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। यही कारण है कि उनके चित्रों में वही आनन्द है जो यथार्थ वस्तुओं में है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कवियों ने प्रकृति को अपनी मनोरम कल्पनाओं का आधार बनाकर उसके प्रति अपनी सौन्दर्यप्रियता का परिचय दिया है। अलङ्कार भी सौन्दर्य ही है कहा भी है **"सौन्दर्यमलङ्कारः"**। यदि इस दृष्टि से भी देखें तो भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कवियों की सौन्दर्य पर्यवेक्षण शक्ति ही अलङ्कारों के भीतर कार्य करती है। यह दृष्टि कभी-कभी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों के आकर्षक चित्र प्रस्तुत करके मानव मन को हर लेती है। प्रकृति के प्रति भी कवियों में अपनी इसी शक्ति का परिचय दिया है।

प्रकृति को—प्रियतमा या नायिका के रूप में देखने की प्रवृत्ति भी कवियों की सौन्दर्यप्रियता का एक प्रमाण है। इस रूप में यदि प्रकृति की उपासना श्रृङ्गारपरक भावनाओं को लेकर की जाये तो भी उसके द्वारा वह अनर्थ न होगा जो साक्षात् कामकेलि वर्णन से होता है। अनेक कवियों ने प्रकृति के साथ बलात्कार करने की चेष्टा की है किन्तु उसके मूल में उनकी

श्वानवृत्ति ही है। निराला जी की भी निम्नाङ्कित कविता श्वानवृत्ति का नग्न रूप उपस्थित करती है :—

सोती थी
जाने कहाँ कैसे प्रिय आगमन वह
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
फिर भी जागी नहीं
चूक क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—आदि

डा० रामकुमार वर्मा का रहस्यवाद भी कुछ इसी प्रकार का है :—

मैं हूं शिशिर और तुम हो प्रिय निर्विकार बसंत।
मैं तुमसे मिल गया प्रिये ! यह है माया का अंत॥

प्रसाद जी नारी के मानसिक उद्गारों का उद्घाटन प्रकृति के उपकरणों के द्वारा करते हैं और कामवेलि का साक्षात् दृश्य उपस्थित हो जाता है :—

मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूं।
भुजलता फँसाकर नर तरु से झूले से झोंके खाती हूं॥

प्रकृति को आधार मानकर उसके सहारे अप्रस्तुत के चित्र खींचने से काव्य की जी श्रीवृद्धि होती है वह साहित्य की अनोखी वस्तु है। प्राचीन कवियों ने तो इस दिशा में प्रयास किया ही, आधुनिक कवियों ने भी पर्याप्त श्रम किया है। किसी भी समृद्ध भाषा के साहित्य में यदि प्रकृति के महत्व को देखना चाहें तो कवियों द्वारा प्रस्तुत अप्रस्तुत योजना को ही सर्वप्रथम देखना होगा। मानव की सर्वप्रथम सहचरी प्रकृति को नाना रंगों के परिधानों से सुसज्जित करके उसे रंगस्थली में लाकर उपस्थित कर देना साधारण सी शक्ति का कार्य नहीं है।

सरदार कवि की नायिका सहेलियों से पृथक गौरि पूजन के लिए यमुना दुकूल पर गई वहाँ उसे अजीब चमक दिखलायी पड़ी। अतः यह वहाँ से भाग कर घर वापस आ गई यह चमक ऋतुराज की थी। वह कहने लगी कि अब वियोगी समुदाय जीवन धारण न कर सकेगा क्योंकि कोकिल का शब्द उनके हृदय को विदीर्ण किये डालता है। समस्त वनस्थली में वसन्त के आगमन की घोषणा हो रही है :—

सुंग की सहेली रहीं पूजत अकेली सिवा
तीर-जमुना के नीर चमक चपाई है।
हौं तौ आई भागत डरत हियरा तें घरैं
तेरे सोच करि मोंहि सोचत सबाई है ॥
बचिहैं बियोगी योगी जन 'सरदार' ऐसी
कंठ तें कलित कूक कोकिल कढ़ाई है।
बिपिन समाज में दराज सी आवाज होति
आज महाराज ऋतुराज की अवाई है ॥

'पंडित प्रवीन' कवि ने ऋतुराज को महाराज का रूप देकर उसके साथ में रहने वाले अन्य उपकरणों को उसकी सेवा में रत दिखलाया है। वितान के रूप में वल्ली की लता है, बिछौने के रूप में मल्लीदल है, वन-निकुंज प्रासाद के रूप में है। वनराज का दरबार भरा हुआ है, वहाँ पर भ्रमरावली एकत्र है, कामदेव ऋतुराज के दीवान के समान है, कोकिल समूह भृत्य के समान 'हाजिर हुजूर' के शब्द करता है और कामिनी के काम रूपी गढ़ को नष्ट करता है। चातक चोबदार के समान विरद-गान करता है और महाराज ऋतुराज की जय जयकार करता है :—

बल्ली कौ बितान मल्लीदल कौ बिछौना
मंजु महल निकुंज है प्रमोद बनराज कौ।
भारी दरबार भरौ भौंरन की ओर बैठी
मदन दिबान इतिमाम काम काज कौ ॥
'पंडित प्रवीन' तजि मानिनी गुमान-गढ़
हाजिर हजूर सुनि कोकिल अवाज कौ।
चोपदार चातक विरुद वढ़ि बढ़ि बोलैं
दौलत दराज महाराज ऋतुराज कौ ॥

मुबारक कवि ने वर्षा को दुख रूपी शिशु के जन्म के समय विरह-बधाइयाँ लाने वाला व्यक्ति माना है। वह बादलों के नगाड़े बजा रहा है, नदी नदों का शब्द ताल के समान हैं, झींगुरों का शब्द झाँझ का शब्द है, मृगों का शब्द भेरी के शब्द के सदृश है, कोकिल अलाप करने वाला है, मयूर नर्त्तक के समान है, चातक चटकारी कर रहा है, जुगुनू भी मणियों की माला के सदृश है, अन्धकार थाली के समान प्रतीत होता है तथा उसमें बिजली चारों ओर दीपकों का सा प्रकाश उत्पन्न करती है। इस पावस काल में प्रिय

के परदेश में होने पर दुःखरूपी शिशु का जन्म होता है। अतः विरह बधाइयाँ लाने का कार्य पावस कर रहा है। यथा :—

बाजत नगारे घन ताल देत नदी नारे
झींगुरन झाँझ-भेरी भृंगन बजाई है।
कोकिल अलाप चारी नीलग्रीव नृत्यकारी
पौन बीनधारी चाटी चातक लगाई है॥
मनिमाल जुगनू 'मुबारक' तिमिर वार
चौमुख चिराग चारु चपला जराई है।
बालम बिदेस गये दुख कौ जनम भयौ
पावस हमारै लायौ बिरह बधाई है॥

अप्रस्तुतों की योजना में कवियों ने कहीं-कहीं पर बड़ा कौशल दिखलाया है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित छन्द में 'तोष कवि' ने घन और घनस्थल में पारस्परिक होड़ का वर्णन किया है। इस वर्णन में प्रकृति के उपकरणों का सहारा किया गया है। जुगनू की उपमा जवाहर से, झिल्ली की झंकार के शब्द की उपमा घुँघुरू कें शब्द से, इन्द्रधनुष की उपमा नायिका की वंक-भौंह से, वरुपंक्ति की उपमा मोती माल से, शिखी की उपमा शिखाधारण करने वाली नायिका से तथा पपीहे के 'पी' शब्द की उपमा नायिया के सीत्कार से की गई है। इस प्रकार के अप्रस्तुतों का चित्र कितना सुन्दर है :—

जुगनू उतै हैं इतै जोति है जवाहिर की
झिल्ली झंकार उतै इतै घुँघुरू लरैं।
कहैं कबि 'तोष' उतै चाप इतै बंक भौंह
उतै बकपांति इतै मोती माल ही धरैं॥
धुनि सुनि उतै सिखि नाच सखि नाचैं इतै
पी करे पपीहा उतै इतै प्यारी सीकरैं।
होड़ सी परी है मनों घन घनस्याम जू सों
दामिनी कों कामिनी कों दोऊ अंकों में भरैं॥

मानवीकरण (Personification) का व्यवहार काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने की दृष्टि से किया जाता है। इसका व्यवहार पाश्चात्य देशों के कवि अधिक मात्रा में करते हैं। हिन्दी के काव्य में इसका उपयोग मर्यादित है। कवि जब प्रकृति के उपकरणों से अपना मन बहलाव करना चाहता है तभी

वह उसको मानवी के रूप में मानकर उससे वार्तालाप करता है। काव्य की यह शैली प्राचीन काव्य से व्यवहृत होती चली आती है। कवि के हृदय का समस्त अनुराग उस मानवी प्रकृति के प्रति प्रगट होकर समस्त वातावरण को प्रभावित करता है। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णनों के द्वारा दुहरा काम होता है। एक तो मानव की जिज्ञासा वृत्ति को सुख और सन्तोष का अनुभव होता है, दूसरे उसमें कल्पित स्वरूप का आरोप उसे वह आनन्द प्रदान करता है जो यथार्थ से ऊपर उठकर कल्पना में ही प्राप्त हो सकता है। यथार्थ की अपेक्षा कल्पना का आनन्द अधिक मधुर होता है। ग्वाल कवि द्वारा मेघमाला का प्रस्तुत चित्र कितना आकर्षक है :—

प्यार सों पहरि पिसवाज पौन पुरवाई
ओढ़नी सुरंग सुरचाप चमकाई है।
जग जोति जाहिर जवाहर सी दामिनी है
अमित अलापन की गरज सुनाई है॥
'ग्वाल कवि' कहै धाम धाम लखि नाँचै
राचै चितवित लेत मोद नाचत सुहाई है।
बंचनी बिराग हू की अति परपंचनी सी
कंचनी सी आज मेघमाला बनि आई है॥

उपर्युक्त चित्र में मेघमाला के सारे कार्य कलाप मानवी के सदृश घटित होते हैं। कवि का कौशल ही उसके वर्णन में प्राण प्रतिष्ठा कर सका है।

डा० रघुवंश काव्य में उपमाओं की सुन्दर योजना के लिए प्रकृति के माध्यम को अनिवार्यता प्रदान करते हैं यथा :—

"प्रकृति से अलग किये उपमान अपनी किसी भी योजना में काव्य के उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकते।"

(प्रकृति और हिन्दी काव्य—पृष्ठ ४७७)

अस्तु प्रकृति को काव्य से पृथक नहीं किया जा सकता। प्रकृति का अलंकरण करके उसके द्वारा काव्यमें नवीन सौन्दर्य लाया जा सकता है। प्रकृति से दूर जाकर कवि इधर-उधर भटकता फिरेगा परन्तु उसे न कहीं विश्राम मिलेगा और न शान्ति ही। मृग तृष्णा के वश में होकर उसे मरुस्थलों में काव्य की भ्रान्ति हो सकती है परन्तु उसके द्वारा तृषा शान्त होना कदापि

सम्भव नहीं है। मानव मन प्रकृति की गोद में निरन्तर विश्राम का अनुभव करता आया है और करता रहेगा अतः जो काव्य मनोविज्ञान के आधार पर लिखा जायगा वह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल कदापि नहीं हो सकता। जो काव्य मनोविज्ञान के अनुकूल न होकर उसके प्रतिकूल होगा वह कितना ही कलापूर्ण क्यों न हो मानव मन को आकर्षित नहीं कर सकेगा। अतः प्रकृति और काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध है।

---

२. हिन्दी कविता में शृङ्गार-रस

अन्य रसों की अपेक्षा काव्य में शृङ्गार रस का व्यवहार अधिक हुआ है। काव्य की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की परिभाषा के अनुसार उसका रसात्मक होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अतः शृङ्गार रस का अध्ययन काव्य के आन्तरिक तत्व का अध्ययन है।

शृङ्गार रस की ओर कवियों की रुचि अन्य रसों की अपेक्षा क्यों अधिक थी ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय मस्तिष्क सहसा उसके व्यापक प्रभाव के कारणों की खोज में लग जाता है। विद्वानों द्वारा उद्धृत अनेक मतों की समीक्षा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शृङ्गार रस का प्रभाव नर और नारी दोनों पर समान रूप से पड़ने के कारण ही उसका महत्व सर्वाधिक है।

काव्य मानव की भावनाओं का भण्डार है अतः काव्य से मानव हृदय में उठने वाली उमङ्गों को पृथक नहीं किया जा सकता। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है। यह अनादि काल से चला आने वाला भाव है। इस स्थायी भाव के आलम्बन तथा आश्रय दो आधार पक्ष होते हैं। रस के सम्बन्ध में भरत का सिद्धान्त **"विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** मान लेने पर विभाव, अनुभव तथा व्यभिचारी या सञ्चारी भावों के द्वारा रस निष्पत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। विभाव के अन्तर्गत आलम्बन तथा उसकी चेष्टायें, अनुभाव के अन्तर्गत कायिका परिवर्तन तथा व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत वे समस्त मनोविकार आते हैं जो स्थायीभाव को पुष्ट करते हैं। सञ्चारी भावों की स्थिति जल के बुदबुदों के समान होती है जो क्षण भर में उदय तथा क्षण में विलीन हो जाते हैं।

विभाव का चित्रण करते समय कवियों ने नायिका भेद का विशाल साहित्य प्रस्तुत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विशालता में भी अधिकाँश कवियों की वैयक्तिक रुचि का ही परिचय मिलता है तथापि इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा किइस प्रकार के साहित्य का निर्माण करने के लिए भी कवियों

को पर्याप्त श्रम करना पड़ा होगा क्योंकि नायिकाओं की जिन चेष्टाओं या गुणों को आधार मानकर उन्होंने उनका वर्गीकरण किया है वह सामान्य मस्तिष्क की कल्पना नहीं है। 'नायिका' शब्द का ग्रहण पृथक पृथक रूपों में किया गया है तथापि इतना तो सभी ने स्वीकार किया है कि नायिका में सौन्दर्य होना आवश्यक है तथा अपनी चेष्टाओं और हाव भावों के द्वारा नायक के मन को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता भी होनी चाहिये। एक अन्य विशेष बात भी है कि जिस रमणी को देखकर नायक के मन में श्रृंगार रस का उदय हो जाय वही नायिका है। 'भौन' कवि द्वारा प्रस्तुत की गई 'नायिका' की परिभाषा द्रष्टव्य है :—

लाज भरी मांग भरी सुन्दर सुहाग भरी
राग भरी रति में पिया की सुखदाइका।
लाजै रति रूप खरी सील भरी सौ गुने है
गुन गान आगरी करत हाइ भाईका॥
'भौन' कवि कहत विलोकत ही जासु अंग
प्रकटै अनंग रस रासि उपजायिका।
बैन मनभाइका मनोरथ सहाइका सुचित
चोप चाइका बखानैं ताहि नायिका॥

'श्रीधर' कवि भी इसी भाव का पोषण करते हुए कुछ थोड़े अन्तर से कहते हैं :—

जासु की दीपति दीप तें सौगुनी दामिनी कुंदन केसर आइका।
काम की खानि सदा मृदुबानि सनेह छकी छित में छबि छाइका॥
अंग अनूपम को बरनै सब अंगन प्रीतम को सुख दाइका।
मानों रची छबि मूरति मोहनी 'श्रीधर' ऐसी बखानत नाइका॥

पद्माकर नायिका में इतनी अधिक कोमलता का समावेश करते हैं कि वह केवल कल्पना की वस्तु रह जाती है। उनका कथन है कि नायिका के पैरों में मखमल के बिछौने भी गड़ते हैं। इतनी कोमलाङ्गी नायिका नवनीत की पुतली ही रही होगी। सामान्य नारी में इतनी अधिक मृदुता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका कथन इस प्रकार है :—

सुन्दर सुरंग नैन सोभित अनंग रंग
अंग-अंग फैलत तरंग परिमल के।

बारन के भार सुकुमार की लचत लंक,
राजै परजक पर भीतर महल के।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि जन रीझें जाहि,
अम्बर अमल के सकल जल-थल के ॥
कोमल कमल के गुलाबन के दल के,
सुजात गड़ि पाँयन बिछौना मखमल के ॥

शृङ्गार रस के दो पक्ष होते हैं १–संयोग २–वियोग। संयोग पक्ष में नायक-नायिका के मिलन से सम्बन्धित वातावरण का चित्र अङ्कित किया जाता है तथा वियोग में उनके विप्रलम्म के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ के चित्रण में कवियों को अधिक आनन्द आया है। इसका एक कारण यह भी है कि संयोगावस्था में मन के भीतर वे सङ्घर्ष नहीं उत्पन्न होते जिनकी सहजोद्रिक्तता वियोगावस्था में होती है। वास्तव में प्रेमी प्रेमिकाओं को वियोगास्था में ही प्रेम की उत्कटता का अनुभव होता है। संयोगावस्था में प्रेमियों के हृदय निष्क्रिय से हो जाते हैं। इसी कारण पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है :—

"विरह प्रेम की जागृति गति है, और सुषुप्ति मिलन है।"

प्रोषितपतिका नायिकाओं के चित्रों में वियोग की समस्त दशाओं के चित्र अङ्कित किए गए हैं। इन वियोगिनी नायिकाओं के हृदय में प्रिय के स्मरण का इतना घातक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है कि उसके कारण कभी तो वे पछाड़ खाकर गिरती हैं, कभी प्रिय को पत्र लिखकर भेजती हैं और कभी प्रिय के आगमन की कोई आशा न देखकर मरण प्राय हो जाती है। इन समस्त-वियोग चित्रों में कवियों की कल्पना का कौशल ही मुख्य रूप से प्रगट होता है। ऐसे स्थलों पर कवि की कल्पना मूर्त रूप में आकर उपस्थित हो जाती है। 'देव' कवि की प्रोषितपतिका नायिका का चित्र कितना स्वाभाविक है :–

आई रितु पावस न आए प्रान प्यारे यातें,
मेघन बरजि आली! गरजनि लावैं ना।
दादुर हटकि बक बक कै न फोरैं कान,
पिकन पटकि मोंहि सबद सुनावैं ना ॥
बिरह बिथा तें हौं तौ ब्याकुल भई हौं,
'देव' चपला चमकि चित चिनगी उड़ावै ना।

चातक न गावैं मोर सोरना मचावैं घन,
घुमड़ि न धावैं जौलौं लाल घर आवै ना ॥

'रघुनाथ' कवि की प्रोषितपतिका नायिका की दशा इतनी अधिक शोचनीय हो गई कि उसको कोकिल का शब्द, मलयपवन का सञ्चरण तथा धमार का उत्सव विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने वाले हो गए। अतः उसकी सखी शिकारियों से कहती है कि इस उपवन में कोकिल न आने पावे तथा झरोखों को बन्द कर लेती है जिससे मलय-पवन आकर उसे व्यथित न बनावे। यह विचित्र दशा है :—

दै कहि बीर सिकारिन कों इहि बाग न कोकिल आवन पावै।
मूँदि झरोखनि मंदिर के मलयानिल आइ न छावन पावै ॥
आए बिना 'रघुनाथ' बसंत कौ ऐबो न कोऊ सुनावन पावै।
प्यारी को चाहौ जियाऔ धमार तौ गाँव को कोऊ न गावन पावै ॥

पद्माकर की प्रोषितपतिका नायिका के चित्र में यह विशेषता है कि नायिका को प्रकृति के समस्त उपकरण उसके प्रति विश्वासघात करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपना विरह-निवेदन पूर्ण सन्देश उद्धव के द्वारा कृष्ण के पास भेजती है यथा :—

बरसत मेह नेह सरसत अंग-अंग,
झरसत देह जैसे जरत जवासौ है।
कहै 'पद्माकर' कलिंदी के कदंबन पै,
मधुबन कीनो आय महत मवासौ है ॥
ऊधौ! यह ऊधम जताय दीजो मोहन को,
ब्रज कौ सुवासौ भयो अगिनि अवासो है।
पातकी पपीहा जलपान कौ न प्यासौ,
काहू बिदित बियोगिन के प्रानन कौ प्यासौ है ॥

वियोगिनी नायिकाओं के शारीरिक जीवन चित्रों का केवल ऊहात्मक उल्लेख करके कवियों ने अवकाश नही लिया वरन् उन्होंने नायिकाओं के हाव-भाव एवं चेष्टाओं की मार्मिक अभिव्यंजना भी की है।

समस्त रीतिकालीन काव्य प्रेम के मधुर व्यापारों से परिपूर्ण है। कवियों ने जीवन की सुखद परिस्थितियों का वर्णन इतने आवेश पूर्ण शब्दों में किया है कि आज किसी भी काल के कवियों के काव्य से उनकी तुलना नहीं की जा

सकती। नायिका के नेत्र खञ्जन के सदृश हैं या मीन के। इस सामान्य प्रश्न को लेकर कवियों ने पर्याप्त श्रम किया है। कवि परम्परा से नेत्रों को कमल के सदृश मानने की परिपाटी चली आ रही थी। अतः बिहारी ने नवीन-कल्पना की और पूर्व कथित कल्पनाओं को अनुचित सिद्ध किया। उनके अनुसार नेत्र कमल के सदृश न होकर पाषाण के सदृश होते हैं। यदि ऐसा न होता तो दो प्रेमियों के नेत्रों के लड़ जाने से विरह की अग्नि कैसे उत्पन्न हो सकती है ? उसका कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है यथा :—

कहत सबै छबि कमल से, मो मत नैन पखानु।
नतरुक कत इन बिय लगत, उपजत बिरह कृसानु॥

श्रृङ्गार रस का प्रधान विषय नायक-नायिका के अङ्गों का वर्णन है। इस दृष्टि से विचार करने पर भी हिन्दी के काव्य के प्रति आदर का भाव कम नहीं होता। हिन्दी काव्य में नायिकाओं के अङ्गों का इतना सुन्दर वर्णन मिलता है कि इतना सुन्दर वर्णन अन्य भाषाओं के काव्य में नहीं मिलेगा।

नायिका के एक-एक अङ्ग में इतना सौन्दर्य स्थापित किया गया है कि उसके समक्ष करोड़ों रति एवं कामदेव लज्जित हो जाते हैं। नायिका के नेत्रों में अमृत, हलाहल, तथा मद भरा हुआ है। उसके श्वेत, श्याम तथा रक्तवर्णों के द्वारा वे तीनों पदार्थ प्रगट होते हैं। उनमें इतनी शक्ति है कि श्वेत रंग के प्रभाव से वे अमृत के समान जीवित करने की शक्ति रखते हैं, श्याम रङ्ग के प्रभाव से उसमें विष के समान हत्या करने की प्रवृत्ति भी है तथा रक्त वर्ण के प्रभाव से उनमें वारुणी के सदृश मदान्ध कर देने की शक्ति भी है। उपर्युक्त समस्त गुणों का आरोप नेत्रों पर एक साथ करते रसलीन कवि कहते हैं :—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इकबार॥

नायिका के अधरों की लाली को देखकर बिम्बाफल लज्जित हो जाता है, नासिका को देखकर सुआ पराजय का अनुभव करता है तथा दन्तावली को देखकर दाड़िम उसकी समानता न कर सकने के करण दरक कर फट जाता जाता है। इतना ही नहीं नायिका के श्वेत हास्य को देखकर हंस का निर्माण, नेत्रों को देखकर कमल का जन्म, शरीर की ज्योति को देखकर निर्मल जल की उत्पत्ति तथा दन्तावली को देखकर नग और हीरों का निर्माण किया गया है। इस प्रकार की कल्पना जायसी के काव्य में द्रष्टव्य है :—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

नायिका के समस्त शरीर का सौन्दर्य इतना मनोहर है कि यदि चञ्चला पूर्णिमा की चन्द्रिका में स्नान करके आवे तो उसकी समता कर सकती है। 'प्रसाद' जी ने इस कल्पना का चित्रण इस प्रकार किया है :—

चंचला स्नान कर आवे चंद्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी॥

घनानन्द द्वारा प्रस्तुत नायिका का सौन्दर्य-चित्र परम्परागत सौन्दर्याङ्कन प्रणाली के आधार पर ही निर्माण किया गया है। एड़ी से लेकर चोटी तक नायिका के शरीर में सौन्दर्य भरा हुआ है। कवि कहता है :—

एड़ी तें सिखालौं है अनूठियै अंगेट आछी,
रोम रोम नेह की निकाई में रही हैं सनि।
सहज सुकबि देखें दबि जाहिं सबै बाम,
बिन ही सिंगार और बानिक बिराजै बनि॥
गति लै चलत लखें मतिगति पंगु होति,
दरसति अंग रंग माधुरी बसन छबि।
हंसनि लसनि घन आनंद जुन्हाई छाई,
लागे चौंध चेटक अमेट ओपी भौंहैं तनि॥

श्रृङ्गार के वर्णन में जब सूक्ष्म भावों का चित्रण सूक्ष्म रीति से किया जाता है तब वह मनमोहक प्रतीत होता है परन्तु जहाँ उसके वर्णन में स्थूलता आ जाती है वहीं वह भद्दा सा प्रतीत होने लगता है। मतिरम्म का केलि-वर्णन चाहे अश्लील न कहा जाय परन्तु इतना अवश्य कहा जायगा कि वह अत्यन्त स्थूल वर्णन है यथा :—

केलि कै राति अघाने नहीं दिन हूँ में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयो भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हंसि हेरि हरै 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोल में कान न दीन्हों सो गेह की देहरी पै धरि आई॥

काव्य में श्रृङ्गार रस के प्रयोग से उसमें चारुता उत्पन्न होती है तथापि उसका प्रयोग एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही किया जाना चाहिए। मर्यादित श्रृङ्गार आदर की वस्तु है। मानव का मन स्वयं ही कामवासना

से पूर्ण हैं किन्तु उसका नग्न प्रदर्शन असभ्यता है। समाज की उन्नति के लिए कामवासना को अधिक उत्साहित न करके सात्विक प्रेम-साधना को ही प्रोत्साहन देना उचित है। भारतीय दृष्टिकोण इसी का पोषक है। प्रेम-भावना का विश्लेषण करते हुए डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने लिखा है :-

"प्रेम-भावना और कुछ नहीं रतिभाव के अन्तर्गत हृदय का पूर्ण निवेदन वाला तत्त्व है।"

(रीतिकालीन कविता एवं श्रृङ्गार रस का विवेचन—पृष्ठ ५२४)

यदि प्रेम भावना का वास्तविक अर्थ समझकर काव्य में श्रृङ्गार रस का प्रयोग किया जाय तो सर्वथा उचित होगा।

---

३. काव्य और जीवन

मानव-जीवन चेतनापूर्ण होता है। उसकी चेतना को बल देने वाले पदार्थों में भौतिक पदार्थों का महत्त्व अधिक नहीं है। आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करके उसकी चेतना को उद्‌बुद्ध करने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो एक मात्र साहित्य को। साहित्य में गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता है किन्तु अधिक भावुकता काव्य में होने के कारण वही मानव मन का स्पर्श अधिक सरलता से करता है। उसकी तुलना में गद्य-साहित्य नीरस होता है और उसका हृदय से कम मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में भावुकता जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है। प्रत्येक वस्तु का भौतिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है। आर्थिक समस्याओं के समाधान का माध्यम होना भी वस्तु में श्रेष्ठता का प्रमुख मापदण्ड है। मानव ईश्वर को भूलकर अहङ्कार में लिप्त है। उसके हृदय नहीं रहा और केवल मस्तिष्क की क्रियाओं से ही उसे सुख मिलता है। जिस बात में तर्क न हो वह बात अब पसन्द नहीं की जाती। उस तर्क के सहारे असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य घोषित किया जाता है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने की भयावह धारणा ने मानव को मानव का शत्रु बना दिया है। घृणा, द्वेष, असहनशीलता, दम्भ एवं पाखण्ड आज के युग को आक्रान्त किये हैं। यह विषमता दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि मानव ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को भुला दिया है। काव्य में आध्यात्मिकता होती है। काव्य-रस को ब्रह्मानन्द सहोदर भी माना जाता है। जितनी अधिक प्रेरणा मानव के हृदय को काव्य से मिलती है उतनी अन्य किसी वस्तु से नहीं। 'प्रसाद' जी ने तर्कवादी युग पर कितना सुन्दर व्यंग किया है :—

मन जब निश्चित सा कर लेता कोई मत है अपना।
बुद्धि दैव बल से प्रमाण का सतत निरखता सपना।।
सदा समर्थन करती उसको तर्कशास्त्र की पीढ़ी।
ठीक यही है सत्य यही है उन्नति सुख की सीढ़ी।।

किन्तु सत्य यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ापञ्जर का पाला हुआ सुमन है।।
सब बातों में एक तुम्हारी रट सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के बनता छुई मुई है।।

वर्तमान युग में मानव की ठीक वही दशा है जिसका वर्णन 'प्रसाद' जी की उपर्युक्त पंक्तियों में मिलता है। प्रसाद जी के अनुसार बुद्धिवाद जब आवश्यकता से अधिक बढ़कर हृदयवाद का विनाश कर देता है तब महान् अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। मानव तर्ककरों के स्पर्श से सत्य का विनाश कर देता है।

काव्य के उदय के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार इसी पक्ष में है कि उसका जन्म नितान्त भावुकता से हुआ। पन्त जी काव्य को वियोगजनित आँसुओं का प्रसाद मानते हैं तथा अन्य विद्वान महर्षि वाल्मीकि के मन में करुणा के उद्वेग से ही काव्य की उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। इस करुणा के साथ ही सौन्दर्यानुभूति होने पर जब कवि की वाणी उसके उद्गारों को प्रगट करने के लिए विवश हो जाती है तब भी काव्य का जन्म होता है। इस प्रकार काव्य की सृजन सम्बन्धिनी प्रेरणायें मानव-मन में उत्पन्न भावनाओं के संघर्ष का ही परिणाम होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है :—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ज्ञानदशा है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था का नाम रसदशा है। इस रसदशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसी का नाम कविता है।"

मानव इस संसार से ऊपर उठकर आनन्द की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहता है। सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त कर लेने पर भी उसको एक अभाव अनुभव होता है। उस अभाव से ही यह प्रकट है कि मानव एक ऐसी वस्तु की लालसा करता है जो इस लोक से परे है। इस अभाव की पूर्ति काव्य के द्वारा होती है। इसीलिए काव्यानन्द को अलौकिक माना जाता है। एक बार मानव मन इस संसार को छोड़कर अदृश्य जगत की ओर प्रस्थान करता है और तभी कविता का जन्म होता है।

फ्रायड प्रभृति पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता अमुक्त काम की प्रेरणा से ही काव्य की उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि काव्य भावना प्राकृतिक एवं

स्वाभाविक है तथा वासनाजनित सम्भोग में ही जीवन है (Sex is natural and normal and mating is the order of life)।इस प्रकार के सिद्धान्तों के समर्थक काव्य के अलौकिक महत्त्व के प्रति अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। यदि कवि प्रत्येक बात का अनुभव करने के पश्चात् ही काव्य-सृजन में प्रवृत्त हुआ होता तो निश्चय ही करुण और वीभत्स रसपूर्ण काव्य प्रणेताओं के जीवन में वैसी ही करुणा एवं वीभत्सता मिलती जैसी कि उनके काव्य में परिलक्षित होती है। किन्तु काव्य का अध्ययन करने पर यह धारणा निर्मूल दिखलायी पड़ती है।

एडलर के सिद्धान्तानुसार हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) ही काव्य-सृजन का हेतु है। यदि इसी सिद्धान्त को प्रामाणिक मान लिया जाय तो उदात्त ग्रन्थि (Superiority Complex) वाले व्यक्तियों को काव्य सृजन की प्रेरणा नही प्राप्त होनी चाहिए किन्तु वास्तविकता इसके विरुद्ध है। अतः इस सिद्धान्त को प्रामाणिक मानकर उस पर निर्भर नहीं रहा जा सकता।

क्रोचे अभिव्यंजनावाद को महत्व देता है। उसके अनुसार काव्य की अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। उसकी अभिव्यंजना में शब्द, स्वर, रंग, रूपादि उपकरणों की बाह्य अभिव्यक्ति नहीं आती। उसके अनुसार अभिव्यंमना द्रव्य अथवा भावात्मक वस्तु का मानसिक मूर्त्त विधान करने का साधन है। क्रोचे के द्वारा उसको सामान्य ज्ञान का पूर्ववर्त्ती मानना तर्क विरुद्ध प्रतीत होता है। अतः उसका सिद्धान्त पूर्वी तथा पश्चिमी किसी भी सिद्धान्त से मेल नहीं खाता।

वड्सवर्थ काव्य को वेगपूर्ण संवेदनाओं का सहज उद्गार अथवा शान्त क्षणों में स्मृत आवेग के रूप में स्वीकार करता है किन्तु यह परिभाषा तभी यथार्थ सिद्ध हो सकती थी जब कि काव्य का अर्थ केवल आन्तरिक मनोवेगों का प्रकाशन करना मात्र रहा होता। इसके विपरीत काव्य मानव के मानसिक आवेष्टन (environment) का विशद चित्र भी प्रस्तुत करता है और शुभाशुभ तथा सुन्दरासुन्दर तत्त्वों का अन्वेषण करके वह मानव मन का उनसे रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित करता है।

मानव-जीवन का प्रत्येक कार्य किसी न किसी हेतु से होता है। प्राचीन आचार्यों ने मानव जीवन के चार हेतुओं या उद्देश्यों के रूप में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की कल्पना की है। काव्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विद्वानों में

मतभेद है। इतना होने पर भी यह कहना सङ्गत नहीं प्रतीत होता कि काव्य का कोई उद्देश्य नहीं होता और वह 'स्वान्तः सुखाय' लिखा जाता है। 'स्वान्तः सुखाय' लिखी जाने वाली रचना में भी शिव का तत्त्व छिपा रहता है। यदि ऐसा न होता तो स्वान्तः सुखाय रामायण लिखने वाले महाकवि तुलसीदास जी यह न लिखते :—

कीरति भणिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

अन्य आचार्यों ने काव्य का उद्देश्य आनन्दप्राप्ति को माना है। यदि इसे ही स्वीकार कर लें तो भी काव्य-रचना का उद्देश्य बना रहता है।

टालस्टाय काव्य-कला की कसौटी के रूप में नीति और धर्म को स्वीकार करते हैं और जीवन पर पड़ने वाले सुन्दर या असुन्दर प्रभाव के आगार पर काव्य को भी सुन्दर या असुन्दर मानते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड काव्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार काव्य जीवन का पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। यदि उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं की दृष्टि से विचार करें तो भी काव्य का मानव जीवन से गहन सम्बन्ध सिद्ध होता है।

अभिव्यञ्जनावादियों की काव्य के लोकमङ्गलाकारी उद्देश्यों से विमुखता तथा मार्क्सवादियों का काव्य को प्रचार का एक मात्र माध्यम मानना काव्य के कोमल उद्देश्यों पर प्रहार करना है।

भारतीय दृष्टिकोण काव्य को रसमय, आनन्दमय एवं लोक-कल्याणमय मानता है। अतः उसका मानव-जीवन से अटूट सम्बन्ध है।

---

४. कला का उद्देश्य

मानव की विवेक-बुद्धि उसमें सद्वृत्तियों का प्रादुर्भाव करती है। इसीलिए कला में सद्वृत्तियों का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक माना जाता है। कला पर कलाकार की छाप अमिट रूप से पड़ती है। कवि का कार्य असाधारण होता है। उसके काव्य पर कवि की सद्वृत्तियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसका एक कारण यह भी है कि काव्य की प्रथम प्रेरणा 'स्वान्तः सुखाय' ही होती है। अपने अन्तःकरण को सुख तभी मिल सकता है जबकि काव्य-रचना आन्तरिक वृत्तियों के अनुरूप हो। 'कला कला के लिए है' का सिद्धान्त मानने वाले विद्वान कला का कोई उद्देश्य स्वीकार नहीं करते परन्तु यह एक आग्रह मात्र है। वास्तव में कला के मूल में भी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश होता है और इसीलिए जीवन की सोद्देश्यता के साथ कला भी सोद्देश्य एवं साभिप्राय होती है।

'कला कला के लिए है' का प्रचार प्रथम योरोप में हुआ। वहीं से यह सिद्धान्त भारत में आया। अरस्तू कला को जीवन की प्रतिकृति मानता था। उसके अनुसार कला का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। तत्पश्चात् प्लैटो ने कला को जीवन की अनुकृति माना। प्रो० ए० सी० ब्राडले ने कला का मापदण्ड सौन्दर्य को माना। उनके अनुसार कला का शुद्ध दृष्टिकोण उसके सौन्दर्य में है। क्रोचे भी इसी मत को मानता है। उसके अनुसार सच्ची कला की मूल अभिव्यक्ति कलाकार के मन में रूप धारण करती है। उस पर नीति, सदाचार तथा उपयोगिता अपना नियन्त्रण नहीं कर सकते तथा कलाकार के मन से बाहर निकल कर वह नीति आदि पर शासन करने लगती है। फ्रांस में इस सिद्धान्त का विकास सर्वप्रथम हुआ था। वहाँ के विद्वानों में से वाल्टर पेटर तथा आस्कर वाइल्ड आदि इसी सिद्धान्त के पोषक हैं। उनके अनुसार कला को उपयोगिता की दृष्टि से देखना तथा उसका मूल्यांकन आर्थिक या नैतिक दृष्टि से करना उसके साथ अन्याय करने के समान है। आस्कर वाइल्ड ने तो आचार और कला के क्षेत्रों को पृथक-पृथक रूप में देखने के लिए समालोचकों को चेतावनी भी दी है। इस सिद्धान्त के अतिवादी समर्थकों में वाल्टर

Ashok Kumar

पेटर, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले तथा क्विलर क्रोच आदि का नाम लिया जा सकता है। 'कला को जीवन के लिए' मानने वाले अतिवादी समर्थकों में रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचार्ड्स तथा अबरक्राम्बी आदि थे। कतिपय समीक्षक मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण भी कर रहे थे।

भारतीय कलाकारों में उपर्युक्त मतों का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इलाचन्द्र जोशी तथा डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर भी इसी मत के पोषक हैं। डा० रवीन्द्र कला को मंगलमय मानते थे।

योरोप में कतिपय ऐसी विचारधाराएं साहित्य से पृथक भी चल रही थीं जो साहित्य और कला को प्रभावित करने में समर्थ हुईं। फ्रायड के स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार अवरुद्ध वासनाओं की अभिव्यक्ति ही काव्य के मूल में है किन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं बन सकता क्योंकि यदि एक कलाकार किसी नग्न रमणी की मूर्ति बनाता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसकी विचारधारा दूषित है। इसी प्रकार जो चित्रकार भगवान का चित्र बनाता है, उसका भक्त होना भी निश्चित नहीं है। कलाकार असाधारण प्राणी होता है अतः उसके व्यक्तित्व को कला में से ढूंढ़ निकालना अनुचित है। साथ ही कला को जीवन से पृथक खोजना भी उचित नहीं है। उक्त दोनों ही दृष्टिकोण एकाङ्गी हैं।

योरोप के कतिपय समीक्षकों ने आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि को मानव की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के रूप में माना है, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा प्रतिकूल है। यहाँ पर तो विवेक को ही मानव का सर्वप्रथम गुण माना गया है क्योंकि अन्य सभी प्रवृत्तियाँ तो पशुओं में भी पाई जाती हैं। पङ्क से पङ्कज की उत्पत्ति होने पर भी पङ्कज के गुण पङ्क में नहीं होते, इसी प्रकार कलाकार की कृतियों में उसका विवेक पाशविक प्रवृत्तियों से पृथक होता है।

काव्य के दो पक्षों में से एक अनुभूति तथा दूसरा अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। यदि 'अभिव्यक्ति केवल अभिव्यक्ति के लिए' (Expression for expression's sake) का सिद्धान्त मान लिया जाय तो अभिव्यक्ति की आधारभूत अनुभूति पर अविश्वास करना होगा किन्तु बिना अनुभूति के अभिव्यक्ति किसकी होगी? अतः यह सिद्धान्त एकाङ्गी कहा जायगा।

आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में काव्य-रचना के हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए काव्य को यश प्राप्ति का साधन (**काव्यं यशसे**), व्यवहार निर्वाह

का माध्यम (व्यवहारविदे) तथा अर्थप्राप्ति का उपाय (अर्थकृते) बतलाया है। यदि आचार्य मम्मट के मत को ही प्रामाणिक स्वीकार करें तो काव्य-रचना में कोई न कोई हेतु अवश्य मानना पड़ेगा।

कला के हेतुओं के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक विचार-धाराओं में से निम्नाङ्कित विचार धाराएँ मुख्य हैं :—

१.	कला कला के लिए	(Art for Art's sake)
२.	,, सेवा के लिए	(,, service's sake)
३.	,, आत्म प्राप्ति के लिए	(,, Self Realisation)
४.	,, आनन्द के लिए	(,, Joy)
५.	,, विनोद विश्राम के लिए	(,, Recreation)
६.	,, जीवन के लिए	(,, life's sake)
७.	,, जीवन की वास्तविकता से छूटने के लिए	(,, as an escape)
८.	,, नीरस व्यवहार में से छूटकर जीवन के आनन्द में आश्रय लेने के लिए	(,, as into life)
९.	,, सृजन की अदम्य वृत्ति को शान्त करने के लिए	(,, as an Creative Necessity)

उपर्युक्त सभी विचारधाराएँ व्यक्तिगत मानसिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। काव्य का जीवन से सम्बन्ध आदि काल से रहा है। कवि को काव्य रचना की प्रेरणा उसके जीवन की परिस्थितियाँ ही देती रहीं हैं। इतना होने पर भी कवि जो कुछ काव्य-रचना करता है वह सदैव दूसरों के लिए ही। वह अपने लिए कुछ नहीं लिखता रहा। अपना हित तो इतना ही कहा जा सकता है कि वह 'परान्तःसुखाय' के साथ-साथ 'स्वान्तः सुखाय' को भी महत्त्व प्रदान करता रहा है। भक्तिकाल की समस्त रचनाएं लौकिक वातावरण की ओर से घृणा उत्पन्न करके भक्ति की ओर अग्रसर करती हैं; वीरगाथा-काल तथा रीतिकाल क्रमशः वीर एवं शृङ्गार रस की धाराओं में स्नान कराते आए हैं। अतः काव्य युग-विशेष के प्रभावों से भी नहीं बच सकता। फिर वह निरुद्देश्य कैसे कहा जा सकता है ?

कवि कविता को अपने हृदय से प्रगट करता है किन्तु उसका प्रभाव कवि पर न होकर पाठकों या श्रोताओं पर पड़ता है। यही लोकहित की

भावना है। यदि पाठकों या श्रोताओं का हित करने की भावना न रही होती तो कौन जाकर तुलसीदास जी से रामायण लिखने का आग्रह कर सकता था ? तुलसीदास जी सन्त थे। उन्हें संसार से कोई प्रयोजन न था तथापि उन्होंने लिखा है :—

निज परिताप द्रवै नवनीता।
परदुख द्रवै सुसंत विनीता ।।

प्रारम्भ से लेकर आज तक कविता मानव के विचारों का संवाहन करती आई है। वीर काव्य को प्रणेता नाल्ह, सूदन और भूषण रीतिकाल में भी वीरता की भावना को जगाते रहे। उस काल के अधिकांश कवि शृङ्गार और कला के फेर में पड़कर कविता कामिनी का शृङ्गार करने में लगे रहे। आधुनिक काल में गुप्त, प्रसाद आदि कवियों ने राष्ट्र की भावनाओं को अपने काव्य के माध्यम से प्रगट किया है, साथ ही स्वर्गीय कल्पनाएं की है। प्रगतिवादी कवि तथा लेखक कृषक तथा मजदूर वर्ग की समस्याओं का आँकलन करके अपने साहित्य के द्वारा विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न हैं।

साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उसमें हमारे मन के ही संस्कार निहित हैं। उसके द्वारा हमारी पाशविक वृत्तियाँ शान्त होकर सात्त्विक वृत्तियाँ उदित होती हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि कला भी जीवन से पृथक नहीं हो सकती। गुप्त जी ने कवियों के काव्य रचना सम्बन्धी उद्देश्य का निर्देश करते हुए लिखा है कि कवि का कार्य केवल श्रोताओं या पाठकों का मनोरंजन करना ही नहीं है वरन् उसको अपने काव्य में लोकहित की भावनाओं का समावेश भी करना चाहिए। उनका कथन इस प्रकार है :—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ।।

गुप्त जी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपदेश का तत्त्व अनिवार्य होने के कारण काव्य में लोकहित की भावना का समावेश होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कला कला के लिए ही नहीं लोकहित के लिए भी है।

---

५. आलोचना का लक्ष्य

प्राचीन काल से ही साहित्यिक आलोचना की प्रवृत्ति का क्रमिक विकास होता आया है। अनेक धर्मग्रन्थों की टीकाएं आलोचना का ही रूप हैं। प्राचीन आलोचकों की अपेक्षा आधुनिक आलोचकों की शैलियों में भिन्नता है। उस युग में हिन्दी गद्य का इतना सुन्दर स्वरूप विकसित नहीं हो पाया था जितना कि आजकल हो गया है। इस सशक्त माध्यम के द्वारा गुण और दोषों की आलोचना इतनी सरलता से हो जाती है कि प्राचीनकाल में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त आज की आलोचना में वैज्ञानिक युग की तर्कपूर्ण शैली का प्रभाव भी अधिक पड़ा है जिसके कारण वर्तमान युग की आलोचना में गुण और दोषों के उद्घाटन की क्षमता पर्याप्त मात्रा में आ गई है। आलोचक का कार्य महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि वह समाज के समक्ष सुन्दर कृतियों को रखकर असुन्दर एवं अकल्याणकारी कृतियों को उसकी दृष्टि से ओझल कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज का नैतिक स्तर गिरने नहीं पाता। इस प्रकार आलोचक का दायित्व भी गम्भीरतम है।

प्रारम्भिक काल में काव्य से ही काव्य की व्याख्या की जाती थी। शनैः शनैः गद्य का आविष्कार होने से उसकी व्याख्या में सुगमता उत्पन्न हो गई और आजकल तो आलोचना में व्याख्या की व्याख्या का प्रयत्न दृष्टि-गोचर होता है। आलोचना ने जीवन को वास्तविकता की ओर विशेषरूप से उन्मुख कर दिया है। अब मनुष्य कोरी भावुकता को छोड़कर उससे ऊपर उठ रहा है और उसे अपने दोष स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे हैं।

कतिपय विद्वानों का यह मत भी है कि साहित्य के विकास को स्वच्छन्द रखने के लिए उस पर आलोचना के अंकुश नहीं लगाने चाहिए परन्तु उनका मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि साहित्य का विकास निरंकुशता से होने दिया जाय तो यह भी होगा कि असुन्दर प्रवृत्तियों का समावेश हो जाने के कारण साहित्य-धारा दूषित हो जावेगी। उसका परिष्कार करने के लिए आलोचना की नितान्त आवश्यकता है। आलोचना से सत्साहित्य-

निर्माण की प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रकार वह दुहरा कार्य करती है। उसके द्वारा साहित्य का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता वरन् उसके विपरीत उससे सत्साहित्य के लिए मार्ग प्रशस्त एवं सुरुचिपूर्ण बन जाता है।

आलोचना का विकास साहित्य के विकास के समानान्तर होता आया है। प्रारम्भिक आलोचनाएँ उतनी गम्भीर एवं संयत भाषा में नहीं होती थीं जितनी कि आज हैं। आलोचनाएँ काव्यमय भी होती थीं। वे उक्तियों का रूप धारण करके साहित्य के विशाल सागर में तरङ्गों को उठाया करती थीं। इस प्रकार की उक्तियों में अत्यन्त प्रसिद्ध उक्तियाँ आज भी प्रचलित हैं यथाः—

१. सूर सूर तुलसी ससी उडगन केसवदास।

२. सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।।

३. कवि को देन न चहै बिदाई।
पूछै केसव की कबिताई।।

भारतेन्दु युग में आलोचना का प्रचार पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा विशेष रूप से हुआ। भारतेन्दु ने स्वयं कवि-वचन-सुधा नामक पत्रिका का सम्पादन किया तथा उनके मित्रों ने भी अनेक आलोचनात्मक पत्रिकाएँ निकालीं। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु तथा डा० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्ल आदि ने आलोचना को क्रमिक-विकास प्रदान किया। आधुनिक युग में डा० नगेन्द्र, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक साहित्य को नवीन दिशाएँ दिखा सकने में समर्थ हुए हैं।

आलोचक में कतिपय विशिष्ट गुणों का होना भी परमावश्यक है। यदि आलोचक आलोचना के द्वारा साहित्य की वास्तविकताओं को पाठकों के समक्ष न रखकर उसका रंगा हुआ चित्र रखता है तो इसका परिणाम यह होता है कि अन्य साहित्यिक कृतियों के साथ वह उचित न्याय नहीं कर पाता। इस प्रकार वह पाठकों के सत्य विश्वासों को ठेस पहुँचाकर उनके मन में साहित्य के प्रति अश्रद्धा एवं अविश्वास उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त आलोचक का एक कार्य यह भी होता है कि वह कठिन से कठिन विषयों को भी सरलतम बनाकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे वे उसको हृदयङ्गम कर सकें।

श्रेष्ठ आलोचक का प्रमुख गुण यह भी है कि वह अनेक विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती मतों पर पूर्ण विचार करने के पश्चात् ही कुछ

निष्कर्ष निकालता है। पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों की अवहेलना करने से उसके द्वारा प्राप्त निष्कर्षों में वह बल आ सकना कदापि सम्भव नहीं हो सकता। एक बात यह भी है कि यदि आलोचक अपने से पूर्व के विद्वानों के मतों का निरादर मात्र करता है तो भी वह श्रेष्ठ आलोचक नहीं माना जा सकता। विशेषता समन्वय में है।

आलोचक में शील और सहानुभूतिपूर्ण सन्तुलन भी होना चाहिए। आलोचक की भाषा में पर्याप्त गम्भीरता अपेक्षित है। यदि आलोचक केवल अन्य मतों की समीक्षा कटु शब्दों में करता है तो वह कदापि आदरणीय नहीं बन सकता। आलोचक को आलोचना करते समय कभी-कभी अपनी आलोचना का प्रभाव अपने मानस पर अनुभव करके भी देखना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि वह जो कुछ लिखेगा वह अन्य आलोचकों को भी अरुचिकर प्रतीत न होगा तथा उसके द्वारा निर्णीत विचारों में यथेष्ट प्रभाव होगा।

द्विवेदी-युग की आलोचनाओं में आत्मतत्व की प्रधानता के दर्शन पर्याप्त मात्रा में होते हैं तो भी उनका स्तर गुरु शिष्य परम्परा से आगे न बढ़ सका। एक गुरू जब अपने शिष्य से कुछ कहता है तो कभी-कभी उसे बल प्रयोग भी करना पड़ता है। इस प्रकार की बल प्रयोग वाली शैली साहित्य में ग्रहणीय नहीं बन सकती। सत्सिद्धान्तों को यदि बलपूर्वक लादा जाने लगे तो वही असत्सिद्धान्तों की श्रेणी में परिगणित किए जाने लगेंगे।

द्विवेदी-युग की आलोचनाओं की एक और विशेषता यह है कि उनमें विषय पर अधिक महत्त्व दिया गया है उनके प्रतिपादन पर कम। यह अपनी रुचि का परिचायक तो है किन्तु साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं है क्योंकि विषय जिस रूप में साहित्य में प्रतिपादित होता है उसी रूप में पाठकों को उसका दर्शन होता है, विषय का वास्तविक कलेवर पाठकों के समक्ष उसकी अभिव्यक्ति के रूप में ही प्रगट होता है। अतः अभिव्यक्ति के महत्त्व को विस्मरण करके केवल विषय को महत्त्व देना साहित्य की दृष्टि से अनुपादेय है।

प्रसाद-युग की आलोचनाओं का स्तर अन्य युगों की अपेक्षा कहीं अधिक संयत एवं महत्त्वपूर्ण है। अभिव्यंजना शैली को महत्त्व देते हुए आलोचकों ने साहित्य के साथ पर्याप्त न्याय करने का प्रयास किया है। आज

का आलोचक अभिव्यंजना का सशक्त माध्यम लेकर ही आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण करता है। सशक्त अभिव्यञ्जना के साथ ही नैतिक पक्ष का समावेश उसके विचारों को गम्भीर एवं संयत बना देता है।

प्रयोगवादी समीक्षा का प्रयोग प्रयोगवादी साहित्य को लेकर हुआ है किन्तु अभी तक इसकी निश्चित रूपरेखा नहीं बन सकी केवल प्रयोग ही किए जा रहे हैं। अच्छा हो कि समालोचक स्वतन्त्र-मतों का प्रयोग केवल सीमित दिशा तक ही करें। अनिश्चित साहित्य पर कोई निश्चित मत स्थापित करना अनुचित है।

प्रभाववादी समीक्षक तो व्यक्ति के अवचेतन मन पर पड़े हुए साहित्यिक प्रभावों को लेकर उन्हीं के उद्‌घाटन को आलोचना का प्रमुख उद्देश्य मानने लगे। मनोविज्ञान की भी एक सीमा होती है। यदि उस सीमा का अतिक्रमण कर दिया जाय तो समस्त साहित्य वासनाओं का नग्न एवं पाशविक प्रदर्शन मात्र बन जायगा, क्योंकि यौन (Sexual) भावनाएँ अन्य समस्त भावनाओं से अधिक मनोवैज्ञानिक कही जाती हैं। यौन-भावना का सन्तुलित नियोजन ही साहित्य के सौष्ठव का कारण कहा जा सकता है। उसके असन्तुलन एवं असंयमित व्यवहार से साहित्य की हेयता अत्यधिक बढ़ जायगी। अतः प्रभाववादी समीक्षा तभी श्रेष्ठ कही जायगी जबकि उसका उद्देश्य नैतिक एवं सामाजिक हो।

प्रगतिवादी आलोचक प्रगति के नाम पर साम्यवाद (Communism) का प्रचार करते हैं। इस प्रकार का प्रचारक साहित्य कहाँ तक साहित्यिक हितों की रक्षा कर सकता है यह बात किसी से छिपी नहीं है। साहित्य जहाँ किसी उद्देश्य विशेष की रक्षा में प्रवृत्त होता है वहाँ उसके द्वारा अन्य मतों की निष्पक्ष आलोचना सम्भव ही नहीं है। ऐसी दशा में आलोचना को वादों की संकुचित परिधि से बाहर निकालकर निष्पक्ष मतदान में प्रवृत्त करना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य में एक युग वह भी था। जबकि देव और बिहारी की तुलना में ही आलोचकों की प्रतिभा का व्यय हो रहा था। एक ओर पं० कृष्णबिहारी मिश्र देव को श्रेष्ठ बतलाते थे तो दूसरी ओर पं० पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन बिहारी को देव से श्रेष्ठ कवि मानते थे। इसी प्रकार सूर और तुलसी में किस कवि को हिन्दी काव्याकाश का सूर्य माना जाय और किसको चन्द्रमा ? इस प्रश्न को लेकर न जाने कितने पृष्ठ आलोचकों ने भर डाले होंगे। इन सभी आलोचनाओं में पाण्डित्य का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार

से किया गया है। किन्तु प्रत्येक कवि के काव्य का धरातल पृथक होता है। उस धरातल पर काव्य को रखकर यदि किसी कवि के विकास का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो स्वतन्त्र रूप से वह अध्ययन एवं अनुशीलन की वस्तु बन जायगा। इसके अभाव में किसी कवि को अन्य कवि की परिस्थितियों में रखकर देखना उतना ही अनुचित है जितना दिन को रात्रि कहना। अतः आलोचना का यह दृष्टिकोण कदापि स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता।

आलोचना का उद्देश्य साहित्य पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डालना है, अतः जो आलोचक इस उद्देश्य की पूर्ति करने में जितना ही अधिक अग्रसर होता है उसकी आलोचना उतनी ही श्रेष्ठ होती है।

---

६. साहित्य का प्रयोजन

आधुनिक युग विज्ञान का युग है । आज का मानव अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यन्त्रों के वशीभूत है । जीवन की सामान्यतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह पराश्रित है । इस भौतिकवादी युग में आत्मिक विकास की नितान्त आवश्यकता है । एक मनुष्य दूसरे मष्नुय को आर्थिक स्वार्थों की दृष्टि से ही बड़ा या छोटा समझे यह मानवता के लिए नितान्त शोचनीय स्थिति है । मानव का हृदय उसके सद्विचारों की सम्पत्ति पाकर ही महान् बन सकता है न कि आर्थिक साधनों की प्रचुरता से । नैतिकता का महत्त्व पार्थिव धन की अपेक्षा कहीं अधिक है । साहित्य मानव के नैतिक विचारों का चिरसञ्चित कोष कहा जा सकता है और उसके द्वारा युगों तक सद्विचारों की वर्षा होती रहेगी ।

इस विज्ञान के फेर में पड़कर मानव अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल गया है । वह प्रेम और सद्भावना के स्थान पर द्वेष और घृणा का प्रचारक बनकर विश्व के संकटों का कारण बन रहा है । विज्ञान परक मानव हृदयहीन होकर विश्व के आर्थिक उत्थान की ओर इस प्रकार संलग्न है जैसे एक लक्ष्यहीन पथिक गन्तव्य स्थान के अज्ञान में पड़कर इधर-उधर भटकता है । हृदय और मस्तिष्क का सन्तुलन नष्ट हो जाने से कोरे बुद्धिवाद का दम भरता हुआ वह विनाश की ओर जा रहा है । इन विनाशक उपद्रवों के मध्य में सुख और शान्ति की वार्ता यदि किसी ओर से हो सकनी सम्भव है तो केवल साहित्य की ओर से ही । उस पर भी मानव की अडिग आस्था अपेक्षित है ।

साहित्य को विश्व मानव का हृदय कहना सर्वथा उपयुक्त होगा क्योंकि मानव के समस्त विचार हर्ष और विषाद से लेकर शान्ति और संघर्ष तक साहित्य में ही सञ्चित रहते हैं । यदि ऐसा न होता ता विश्व के विविध साहित्यों में भाषा विषयक भिन्नता होते हुए भी विचारों में इतना अधिक साम्य कदापि न होता । अनेक राष्ट्रों में भाषा एवं जाति वर्गादि सम्बन्धिनी भिन्नता होते हुए भी सुख दुख तथा जीवन-मरण आदि की भावधाराओं में पर्याप्त साम्य मिलता है ।

साहित्य का क्षेत्र पर्याप्त विशाल है। इसके उद्देश्य भी अपार हैं। यह कहना कि साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिए नितान्त अव्यवहारिक है। जीवन का कोई भी कार्य बिना उद्देश्य के कैसे हो सकता है? प्राचीन महर्षियों ने मानव जीवन के चार उद्देश्य माने थे:—(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष। जब मानवजीवन ही उद्देश्य रहित नहीं तो फिर साहित्य निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? साहित्य का तो जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

यदि साहित्य शब्द की शाब्दिक व्याख्या "सहितस्य भाव:" की जाय तो इसके मूल में 'हित' की भावना मिलती है। यदि समूचे 'सहित' शब्द को एक मानकर व्याख्या करें तो भी 'साथ होने' का भाव साहित्य की जीवन से अभिन्नता की सूचना देता है अस्तु दोनों ही प्रकार से साहित्य जीवन से दूर नहीं जाता। जीवन से दूर जाकर साहित्य या तो अजायबघर की वस्तु बनेगा या घृणा और निरादर का पात्र।

जीवन और साहित्य का इतना अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी प्रश्न यह उठता है कि साहित्य में जीवन की स्थिति किस प्रकार की होती है? जीवन की उपयोगिता मानव के वाह्य यथार्थ जीवन में है और साहित्य की उपयोगिता उसके आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन के विकास में। इस प्रकार जीवन के प्रयोजन सीमित होते हैं जबकि साहित्य अनेकता में एकता का समावेश कर लेता है। जीवन और साहित्य दोनों के प्रयोजनों एवं अन्तिम लक्ष्यों में कोई अन्तर न होने पर भी प्रश्न यह उठता है कि साहित्य के द्वारा मानवता के हितों की योजना किस सीमा तक होती है?

मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य सत्य की प्राप्ति करना है। यह सत्य ही ब्रह्म है। यह सत्य भी काव्य-साहित्य में आनन्द स्वरूप बनकर हमारे मन को मुग्ध करता है। काव्य के द्वारा वह सत्य मङ्गलमय स्वरूप धारण करता है। पन्त जी ने ठीक ही लिखा है:—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय-अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार।।

पन्त जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की स्थापना का उद्देश्य हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं। अवश्य ही हृदय में प्रणय का सूत्रपात ही सत्य स्वरूप को सुन्दरं एवं शिवं की ओर ले जाता है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सौन्दर्य का उद्दीपन ही जीवन में अभावों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा देता है और उन अभावों की अभिव्यक्ति काव्य के रूप में होती है तभी तो पन्त जी कहते हैं :—

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥

पन्त जी की इस उक्ति में करुणाजनित अभाव को ही काव्य-सृष्टि का हेतु माना गया है परन्तु यदि आदि कवि बाल्मीकि के काव्य का हेतु अन्वेषण करें तो यह ज्ञात होगा कि महर्षि बाल्मीकि काममोहित क्रौञ्चपक्षियों के जोड़े का वियोगजनित विषाद न सह सके और करुणाजनित विषाद एवं कामजनित आनन्द दोनों के सम्मिश्रण में ही उनके काव्यात्मक उद्‌गार निकाल पड़े। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कवि के मनोभावों को तरङ्गित करने में यदि एक ओर कामजनित सुख तो दूसरी ओर उनके वियोग से उत्पन्न करुणा। आनन्द और करुणा दोनों ही भावों ने कवि के मानसिक सन्तुलन को ठीक रखते हुए उसे काव्य-रचना के लिए प्रेरणा प्रदान की। इसीलिए आनन्द एवं करुणा दोनों को ही काव्य के मूल में मानना पड़ता है।

सौन्दर्य का उद्दीपन काव्य-रचना का हेतु कहा जा सकता है क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति जिस आत्मशक्ति के द्वारा हुई है वह आत्मशक्ति जिस आत्मा के भव्य आधार पर स्थित है उसकी रचना साक्षाद्नुभूत कलात्मक चिन्तन एवं रसात्मक रचना का मूल कारण है। विश्व की समस्त प्रेरणाओं का आधार आत्मा ही है। वही काव्य की प्रेरक शक्ति भी है। वही रूप रूपान्तरों में सर्वत्र व्याप्त है। साहित्य-रचना में आत्म शक्ति का ही स्फुरण मिलता है। यह आत्मस्फुरण ही साहित्य की मूल प्रेरणा है। काव्य-साहित्य में आत्म का स्वरूपोन्नेष होता है। यह सौन्दर्य के उद्दीपन का ही परिणाम है।

७. सत्यं, शिवं, सुन्दरं

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सिद्धान्त काव्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका है। इसका उद्भव और विकास किस प्रकार हुआ इस विषय में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि भारतवर्ष में इस मत का प्रचार यूनानी कहावत "The true, the good, the beautiful" के अनुवाद के आधार पर किया गया। सर्वप्रथम इसका व्यवहार ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय के द्वारा किया गया। अतः इसके प्रचार का श्रेय उन्हीं को है।

इसका यह अर्थ लगाना नितान्त भ्रामक होगा कि इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन राजा राममोहन राय ने ही किया वरन् वास्तविकता यह है कि इसका पृथक-पृथक प्रतिपादन भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में पृथक-पृथक रूपों में मिलता है। सत्यं को सभी आचार्य काव्य का प्राण मानते हैं। किसी भी देश के आचार्य असत्य के समर्थक नहीं हैं। कहते हैं सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो को काव्य के सत्य के विषय में भ्रम हो गया था और वे काव्य को असत्य कल्पनाओं का भण्डार समझकर कविता का विरोध करने लगे थे तभी तो उन्होंने कहा था—"Poets must be banished from the state, because they paint the unreal images", परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें अपनी भूल प्रतीत हुई और उन्होंने भी काव्य के महत्त्व को स्वीकार किया।

सुन्दरं के लिए तो कुछ कहना ही नहीं। कारण कि असुन्दर काव्य को कौन पसन्द करेगा? अतः अब शिवं का प्रश्न ही रह जाता है। शिवं की स्थापना भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में सर्वप्रथम ही हो चुकी है। यदि यह शिवं तत्त्व इस सृष्टि में न हो तो अशिवत्त्व के कारण मानवता का विनाश हो हो जाय। महाकवि तुलसीदास शिव के अशिव वेष को दिखाते हुए भी उसमें शिवं को ही प्रतिष्ठित करते हैं यथा वर के रूप में महादेव के रूप का वर्णन वह इस प्रकार करते हैं:—

अशिव वेष शिव-धाम कृपाला।

यदि यह शिवं का तत्त्व न होता तो विश्व को अकल्याण घेर लेता। मानवता सङ्कट में पड़ जाती और महान् प्रलय मच जाता। कामायनीकार 'प्रसाद' ने दिखाया है कि जब स्वयं प्रजापति अत्याचार करने लगेगा तब शिव शक्ति आकर उसको दबाएगी। देखिए :—

अतिचारी हो स्वयं प्रजापति,
देव स्वयं शिव बने रहें।
नहीं, इसीसे चढ़ी शिंजिनी,
अजगव पर प्रतिशोध भरी॥

संस्कृत के आचार्य मम्मट का कथन भी महत्त्वपूर्ण है। वह काव्य-रचना हेतुओं पर विचार करते हुए इस प्रकार कहते हैं :—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षये।
सद्यः पर निर्वृत्तये कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे॥

उपर्युक्त श्लोक में शिवं की रक्षा करना प्रत्येक कवि के लिए आवश्यक माना गया है साथ ही 'कान्तासम्मतयोपदेशयुजे' के द्वारा काव्य-रचना का मधुर होना भी आवश्यक बतलाया गया है।

यहाँ थोड़ी भ्रान्ति यह रह जाती है कि वैज्ञानिक जिस सत्य को महत्त्व देता है क्या वह वास्तविक सत्य नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर यदि काव्य के आधार पर देना चाहें तो थोड़ा सोचना पड़ेगा। काव्य के सत्य से विज्ञान का सत्य पृथक है। वैज्ञानिक तो बस इतना ही करता है कि वह वस्तु को चीरफाड़ कर उसके भीतर छिपे हुए सौन्दर्य को विकृत रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसके इस कार्य में सुन्दरम् के लिए कोई स्थान नहीं रहता परन्तु इसके विपरीत कवि अपनी लेखनी के बल से भिन्न प्रकार की कल्पनाओं से युक्त एक से एक सुन्दर चित्र गढ़कर पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है। उसके इस सौन्दर्याङ्कन-कौशल में ही उसकी सत्यनिष्ठा भी देखने को मिल जाती हैं। यह सत्यनिष्ठा सौन्दर्य प्रेम का एक अङ्ग बनकर पाठकों को लुभा लेती है। यदि ऐसा न होता तो कवियों द्वारा गढ़े हुए कल्पना चित्रों को प्लेटो (Plato) के समान सभी लोग यथार्थ ही कहने लग जाते परन्तु कवियों के भाव चित्रों में हमें चाहे बौद्धिक सत्यता के दर्शन भले ही न होते हों परन्तु भावना-मूलक सत्य के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। इसका आशय यह हुआ कि मानव की शाश्वत भावनाओं को प्रश्रय देकर तथा उन्हें विश्वासपूर्ण

आधार प्रदान करके काव्य उन्हें मनोरम क्षेत्र में ले जाता है। उसकी यही कमनीयता उसे सत्य के निकट लाने में सहायक होती है।

वैज्ञानिक के सदृश ही दार्शनिक का सत्य भी कवि के सत्य से भिन्न होता है। दार्शनिक प्रकृति के पदार्थों में जिस असारता के दर्शन करता है वह उसके लिए विराग का कारण बनती है परन्तु एक कवि के लिए संसार की कोई वस्तु निस्सार नहीं है। वह मिट्टी में भी जीवन के दर्शन करता है तभी तो अंग्रेजी के कवि लांगफेलो ने कहा है—

"Tell me not in mournful numbers,
Life is but an empty dream.

\+ + +

Dust thou art to dust returnest,
Was not spoken of the soul."

यदि लांगफेलो के उक्त कथनों के आशयों पर विचार करें तो भी हमें यही मानना पड़ेगा कि दार्शनिकों की अपेक्षा कवि का कार्य कितना उच्चस्तरीय है। कवि अपनी लेखनी के सहारे भव्यतर भावों को पाठकों तक पहुँचा कर उनके द्वारा उनका मनोरंजन भी करता है और हितसाधन भी। इस प्रकार सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के समावेश से उसमें एक विशेष प्रकार की जगमगाहट उत्पन्न होती है।

हिन्दी भाषा के समस्त कवियों ने इस मन्त्र का अनुसरण करते हुए अपार रस की वर्षा की है। सभी कवियों के काव्य से उद्धरण देने में यह विषय अधिक बढ़ जायगा और अनावश्यक विस्तार देना अपना लक्ष्य नहीं है, तो भी दो एक प्रसिद्ध कवियों के काव्यगत उद्धरण देना अनुचित न होगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी सीता-राम विवाह के पूर्व की पृष्ठभूमि में इस प्रकार कहते हैं :—

रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सँवारे॥
मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चमर सुहाए॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि विचित्र बिताना॥
जेंहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनै असि मति कवि केही॥

यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि सत्यं के साथ सुन्दरम् की अभिव्यञ्जना इतने सुन्दर शब्दों में हुई है कि पाठकों का मन मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता ।

यदि सत्यं, सुन्दरम् के साथ ही शिवं का स्वरूप भी देखना चाहें तो निम्नाङ्कित पंक्तियों में देख सकते हैं—

एहि बिधि रघुकुल कमल रवि, मग लोगन्ह सुख देत ।
जाहिं चले देखत बिपिन, सिय सौमित्र समेत ।।

एक उदाहरण बिहारी के काव्य से देना भी अनुचित न होगा । बिहारी कहते हैं कि गौरवपूर्ण शुक्लाभिसारिका नायिका चाँदनी के रंग में मिलकर लक्षित नहीं होती इसी लिए उसकी सखी उसको देख नहीं पाती परन्तु सौरभ के सहारे उसके पीछे लगीहुई चली जाती है । यथा :—

जुवति जौन्ह में मिलि गई, नैंकु न होति लखाइ ।
सौंधें कै डोरें लगी, अली चली संग जाइ ।।

कहना न होगा कि बिहारी की इस उक्ति में सत्यं के साथ सुन्दरम् का मधुर संयोग है । इसके साथ ही अकल्याण की आशङ्का भी नहीं उठती अतः शिवं तत्त्व भी माना जा सकता है ।

---

८. काव्य में अलङ्कारों का स्थान

'अलङ्कार शब्द की उत्पत्ति ही इस बात को सिद्ध करती है कि अलङ्कार का कार्य अलंकृत करना है। अलंकृत करने से यहाँ पर विभूषित या सुसज्जित करने से तात्पर्य है। कुछ विद्वान 'अलङ्कार' शब्द का अर्थ 'अलं'+'कृ' दो शब्दों के आधार पर 'बस'+'करना' के रूप में करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि कविता—कामिनी के अन्य समस्त शृङ्गार किए जाने के पश्चात् जब उसमें अलङ्कारों का समावेश भी कर दिया जाता है तभी उसका शृङ्गार पूर्ण होता है और दर्शक कह देता है कि बस अब शृङ्गार पूर्ण हो गया। इस प्रकार अलङ्कार कविता—कामिनी की समस्त शृङ्गारिकता को पूर्णता प्रदान करने वाले साधन सिद्ध होते हैं। काव्य-शास्त्रानुकूल भाषा में इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार काव्य के उत्कर्षाधायक होते हैं। यह तो एक मत है। अन्य मत काव्य का अस्तित्व बिना अलंकारों के नहीं मानते। ऐसी दशा में अलंकार का महत्त्व सर्वोपरि सिद्ध होता है। अब देखना है कि इन दोनों मतों में कौन सा मत अधिक उपयुक्त है।

अलङ्कारों को काव्य में उत्कर्षाधायक मानने वाले विद्वान अलङ्कारों में चमत्कार-दर्शन करते हैं। उनके अनुसार अलङ्कारों में कोई न कोई उक्ति-सम्बन्धी चमत्कार अवश्य होता है। वे शब्दालङ्कारों में भी उक्ति का ही चमत्कार पाते हैं। वहाँ पर उक्ति-चमत्कार शब्दों से होकर प्रगट होता है। अर्थालङ्कारों में सर्वाधिक चमत्कार अप्रस्तुत के विधान से उत्पन्न होता है। इस मत का पोषण करने वाले अनेक आचार्यों का उल्लेख करके उनके द्वारा बताए गए मतों की समीक्षा करना उतना आवश्यक प्रतीत नहीं होता जितना कि अलङ्कारों के काव्यगत प्रयोगों के आधार पर इस विषय को स्पष्ट करना। अस्तु यहाँ पर काव्यगत प्रयोगों के आधार पर ही इस विषय पर प्रकाश डाला जायगा।

हिन्दी-साहित्य में आचार्य केशवदास को अलंकारवादी कवि माना जाता है। वे अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। उल्लेखनीय तो

यह है कि अलंकारों की सीमा को वे इतनी व्यापकता देते थे कि काव्य के अन्य सभी अङ्गों के (जिनके द्वारा रस, ध्वनि, रीति, गुण और औचित्य आदि का बोध होता है) को वे उन्हीं के अन्तर्गत मानते थे। केशव के अलंकार-प्रेम को उनके आदर्श-वाक्यों में ढूंढ़ने की अपेक्षा उनके व्यावहारिक प्रयोगों में ढूंढ़ने से अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष प्राप्त हो सकने की सम्भावना है। इसी सिद्धान्त को आधार मानकर हम उनके अलंकार-प्रयोगों की समीक्षा करेंगे।

अलंकारों में सर्वाधिक महत्त्व अनुप्रासों को प्राप्त हुआ है। प्रत्येक कवि ने अपने काव्य में अनुप्रासों का व्यवहार किया है। केशवदास ने तो अनुप्रासों का ढेर लगा दिया है। इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

हरित हरित हार हेरत हियो हेरात,
हारी हौं हरिन-नैनी हरि न कहूं लहौं।

अन्य प्रमुख शब्दालंकारों में यमक, श्लेष तथा पुनरुक्तिवदाभास को मान सकते हैं। इन अलंकारों के आधार पर भी कवियों ने काव्य की अत्यधिक रचना की है। बिहारी का यमक प्रयोग कितना स्वाभाविक है? यह देखने की वस्तु है—

तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ पर कवि ने उरबसी शब्द के अनेक प्रयोग करके प्रत्येक बार उसका नया अर्थ निकाला है। अतः चमत्कार शब्दगत होने पर भी नवीन भाव-व्यञ्जना में पूर्ण सहायक सिद्ध हुआ है।

पुनरुक्तिवदाभास का प्रयोग करते हुए एक कवि इस प्रकार लिखता है—

अली भौंर गूंजन लगे, होन लगे दल पात।
जहँ तहँ फूले रूख तरु, प्रिय प्रीतम किमि जात॥

यहां पर कवि अली, भौंर; दल, पात; रूख, तरु तथा प्रिय, प्रीतम आदि शब्द-युग्मों में इस अलंकार का प्रयोग करता है। अवश्य ही इस चमत्कार के आ जाने से एक नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है परन्तु यह चमत्कार ऊपर से लाया गया प्रतीत होता है फलतः इसमें स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती।

अर्थालंकारों में सबसे अधिक प्रयोग उपमालंकार का हुआ है। इसके सभी भेदोपभेद भी कवियों के द्वारा प्रयुक्त होते रहे हैं। विस्तारभय से हम उपमा के अनेक भेदों की चर्चा न करके एकाध उदाहरण देकर यह देखने का प्रयास करते हैं कि उपमा के द्वारा काव्य में क्या नवीन श्रीवृद्धि हो सकी है? गोस्वामी तुलसीदास की निम्मलिखित उक्ति में उपमालंकार है—

प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा।
सिय मुख सरिस देखि मुख पावा॥

यहाँ पर उपमालंकार कवि के भाव को प्रकाशित करने में परम सहायक सिद्ध हुआ है। श्री रामचन्द्रजी की इस उक्ति में सीता के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा चन्द्रमा (अप्रस्तुत) के सहारे हुई है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता था कि सीता का मुख सुन्दर है परन्तु उसमें वह चमत्कार उत्पन्न न हो पाता जो उपमा का प्रयोग करने से हो गया। यहां उपमालंकार स्वाभाविक उत्कर्ष को बढ़ा रहा है। उसमें कृत्रिमता प्रतीत नहीं होती।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा कवियों का उत्प्रेक्षण अत्यन्त सुन्दर रीति से व्यक्त हुआ है। तुलसीदास जी सीता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सीता जिस ओर दृष्टिपात करती थीं उधर ही श्वेत कमलों की वृष्टि होने लगती थी। यथा—

जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी॥

इस स्थल पर भी उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा कवि के भाव में यथेष्ट वृद्धि हुई है। सामान्य कथन में इतना ही कहा जा सकता था कि सीता की दृष्टि श्वेत थी परन्तु कवि ने अलंकार-प्रयोग के द्वारा उसमें विशेष भाव को जन्म दिया है। यदि यहाँ पर इस अलंकार का प्रयोग न किया जाता तो अर्थ में वह चारुता कभी नहीं आ सकती थी जो अलंकार-प्रयोग के कारण आ गई है।

इसी प्रकार प्रतीप अलंकार का प्रयोग करता हुआ कोई कवि कहता है:—

प्रकृति-माधुरी पर कहा, गर्व तोहिं कश्मीर।
नदंन बन तो सम अहै, सोहत परम गंभीर॥

यहाँ पर यदि कवि सीधी सी बात कहता तो पाठकों को कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुमान उतने चमत्कारपूर्ण ढंग से न हो पाता। कवि

यह भी कहना चाहता है कि संसार में गर्व किसी को भी नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए सर्वाधिक सुन्दर काश्मीर-स्थित उपवन भी नन्दनवन से बढ़ कर नहीं है। इस प्रकार प्रतीप अलंकार का प्रयोग करने के कारण ही यहाँ पर चारुता उत्पन्न हो सकी है। बिना इस अलंकार का प्रयोग किए यह चारुता उत्पन्न हो सकना असम्भव था।

इसी प्रकार विरोधाभास अलंकार का प्रयोग करते हुए बिहारी ने लिखा है :—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग त्यौं त्यों उज्वल होय॥

यदि इस स्थान पर बिहारी इस अर्थालंकार का प्रयोग न करते तो यह कथन सामान्य सा होता। इसको इस प्रकार कहा जाता "भक्त को भक्ति के द्वारा चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है।" परन्तु कवि ने अनुरागी (लाल) चित्त को श्याम (काला) रंग में डूबने पर भी उज्वलता (श्वेतता) की प्राप्ति का आश्वासन देकर विचित्र भाव-भङ्गिमा उत्पन्न कर दी है।

अस्तु, अलंकारों का प्रयोग काव्य के भावों को उत्कर्ष प्रदान करके काव्यरसिकों को रसतृप्त करने का अद्वितीय साधन है। काव्य के इतने महत्त्वपूर्ण अङ्ग को काव्य का प्राण मान लेना भी अनुचित न होगा। यहाँ 'प्राण' का तात्पर्य महत्त्वातिशयता से है।

इस प्रकार अलंकारों को काव्य का उत्कर्षाधायक तथा उत्कर्षाधायकों में भी सर्वप्रधान होने के कारण स्वरूपाधायक तक मान लेने में कोई हानि न होगी। हाँ, आग्रहवश अलंकारों का प्रयोग काव्य की रसमयता को ही नष्ट कर सकता है अतः इस प्रकार के दुरुपयोग से काव्य की रक्षा करनी पड़ेगी।

१. हिन्दी काव्य में नारी

हिन्दी-काव्य में नारी की स्थिति पर विचार करने के पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस बात पर भी विचार करलें कि नारी की स्थिति भारतीय समाज में किस प्रकार की रही है। भारतीय समाज सदैव समन्वय-वादी होने के कारण नारी को पुरुष से पृथक देखने में अपनी रुचि नहीं रखता रहा। उधर कहीं-कहीं पर नारी को पुरुष की दासी के रूप में देखने की भी एक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। हमारा प्रारम्भिक सामाजिक रूप किस प्रकार का था इसे जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं तो भी आधुनिक इतिहासकार प्राचीनतम भारतीय समाज को मातृपरक स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'मातृदेवो भव' वाक्य समाज का प्रथम आदर्श रहा है। इसके साथ ही अनेक देवियों की पूजा आदिकाल से होती चली आ रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारा समाज नारी को अत्यधिक महत्त्व देता रहा है।

आगे चलकर समाज की भावनाओं में परिवर्तन आया और रामायण-काल में उसका परमवन्दनीय सती का रूप पूजा जाने लगा। महाभारत-काल में नारी का सती रूप ही वन्दनीय था तथापि रामायण-काल की अपेक्षा उस काल के सती-रूप में उल्लेखनीय अन्तर है। रामायण-काल की सती सीता लोकपावन आदर्शों में इतनी दृढ़ हैं कि वह लङ्का से आने के पश्चात् अग्नि-परीक्षा देती हैं जबकि महाभारत-काल की द्रौपदी बिना कोई परीक्षा दिए ही जयद्रथ द्वारा काम्यकवनान्तर्गत अपहरण से पूत मान ली जाती है साथ ही वह एक के स्थान पर अनेक पतियों का वरण भी करती है।

इन सामाजिक आदर्शों का प्रभाव हमारे काव्य पर पड़ना भी स्वाभा-विक था। अस्तु हिन्दी-काव्य में नारी के उक्त तीनों रूप उपलब्ध होते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में दिए हुए चारों कालों के काव्य में नारी के उक्त सभी रूप प्राप्त होते हैं। अतः उनका पृथक-पृथक वर्णन न करके यहाँ पर प्रत्येक का विवेचन समस्त कालों में निर्मित काव्य को एक मानकर किया जा रहा है।

नारी के मातृस्वरूप का विवेचन अनेक कवियों के काव्य में अनेक प्रकार से मिलता है। विशेष रूप से इस स्वरूप का चित्रण करने वाले महाकवियों में सूर तथा 'हरिऔध' की गणना की जा सकती है। सूरदास जी ने यशोदा के मातृस्वरूप का उद्‌घाटन कृष्ण के वात्सल्य के सहारे बड़ी सरलता के साथ किया है। हरिऔध जी अपने वर्णनों में उनसे कम गम्भीर नहीं दीख पड़ते। अन्तर इतना ही है कि सूर का काव्य ब्रजभाषा में है जबकि हरिऔध का खड़ी बोली में। यशोदा के हृदय में लहराते हुए वात्सल्य-रस के सागर की कल्पना दोनों ही कवियों ने सफलतापूर्वक की है। सूर की यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही हैं। माता का कैसा सुन्दर रूप निम्नाङ्कित पंक्तियों में देखने को मिलता है—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुलावै॥

निद्रादेवी का इस प्रकार आवाहन कोई सहृदय मातृ हृदय ही कर सकता है। सामान्य व्यक्तियों के लिए तो यह उपहास का विषय है।

हरिऔध जी कहते हैं—

जब सुव्यञ्जक भाव विचित्र के,
निकलते कुछ अस्फुट शब्द थे।
तब कई अधराम्बुधि से कढ़े,
जननि को मिलते वर रत्न थे॥

मातृहृदय की प्रतिष्ठा के द्वारा इन महाकवियों ने नारी के मातृरूप की वन्दना भी की है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा अपने पुत्र राहुल का भार विवशता के कारण ढोती है। उसका प्रेमिका-स्वरूप समाप्त होकर जननी के रूप में बदल जाता है। यदि ऐसा न होता तो वह क्यों कहती ?

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आँखों में पानी॥

इस स्थल पर गुप्त जी ने नारी के साथ निष्पक्ष-भाव से विचार न करके भावुकता से भरकर ही यह लिख दिया है। 'नारी अबला है' यह समझना कम भूल नहीं है। भारतीय संसद में श्रीमती सुचिता कृपलानी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि नारी को अबला कहना उसका अपमान करना

है। डा० 'रसाल' का यह गीत 'यह अबलाएं नहीं यह सबलाएं हैं' भी नारी के अबलात्व का खण्डन करता है। इतना होने पर भी हम गुप्त जी के इस कथन का विरोध नहीं करते, क्योंकि उनके कथन का आशय नारी के एक विशिष्ट वर्ग का द्योतक हो सकता है जो शोषित एवं चिरपीड़ित रहा है। अतः यहाँ पर भी नारी को मातृत्व रूप प्रदान करके उसकी वन्दना ही की गई है भले ही उसका जो रूप कवि ने चित्रित किया है वह उतना आकर्षक न हो जितना 'हरिऔध' या सूर का था।

नारी का एक अन्य रूप प्रेमिका का है। यह रूप चिरकाल से हिन्दी कवियों का प्रिय रूप रहा है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने नारी के इसी स्वरूप की वन्दना की है। जीवन में श्रृङ्गार रस की प्रधानता स्वीकार कर चुकने के पश्चात् उसके प्रेमिका रूप से ही हमारी तुष्टि हो सकना सम्भव भी है। अस्तु रीतिकालीन कवियों की इस भावना का यह कहकर निरादर नहीं किया जा सकता कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को स्त्रैण भावनाओं से भरा है वरन् उनकी काव्य-कुशलता की प्रशंसा करने के लिए काव्य-रसिकों का हृदय लालायित हो उठता है। कवियों को इतनी छूट तो परम्परा से भी प्राप्त होती है कि वे अपने सौन्दर्य-वर्णनों में स्थूल उपमानों से सहायता लें। अतः केवल इसी एक बात के आधार पर कवियों के द्वारा प्रस्तुत असंख्य कल्पना-चित्रों की स्थूलता पर दृष्टिपात करके उनकी अवहेलना करना श्रेयस्कर न होगा।

ब्रजवाणी के महान साधकों में भी हमें ऐसा एक भी कवि नहीं मिलता जिसने अपने उपमानों के लिए स्थूल पदार्थों का सहारा न लिया हो। अतः कतिपय थोड़े से कवियों के काव्य के आधार पर ही कोई बड़ा निर्णय कर लेना नितान्त अवाञ्छनीय होगा। यहां हमारा लक्ष्य उन कवियों के काव्य में प्रस्तुत नारी के तथाकथित असांस्कृतिक स्वरूप से है। इस प्रकार के चित्रणों में नारी का प्रेमिका-स्वरूप कितने सुन्दर शब्दों में वर्णित है इसे कहने की आवश्यकता नहीं। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ पर हम एक चित्र 'देव' के काव्य से प्रस्तुत करते हैं। कवि नायिका की कन्दुक-क्रीड़ा का वर्णन इस प्रकार करता है—

आओ ओट रावटी झरोखा झांकि देखौ देव,
देखिबे को दांव फेरि दूजे द्यौस नाहिने।
लहलहे अंग रंगमहल के अंगन में,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहने।।

लोने मुंह लचनि नचनि नैन कोरनि की,
उरति न और ठौर सुरति सराहने।
बाम कर बार हार आंचर संभारै करै,
कैयो बार कंदुक उछारै कर दाहिने ॥

कविवर मतिराम नायिका की सुकुमारता का वर्णन अतिशयता के साथ करते हैं। उनका कथन है कि नायिका के पद इतने सुकोमल हैं कि वह कठोर पृथ्वी पर उन्हें नहीं रखती प्रत्युत् वह अपने चरण वहाँ पर रखती हैं जहाँ पर पुष्पों की शय्या बनी हुई है। वह अंगरागों का लेप अपने अङ्गों में इस कारण नहीं करती कि उसे उनके भार बन जाने का डर है। इसी प्रकार वातायनों के मध्य से होकर आने वाला आतप उसके वदन को मलीन बना रहा है तथा पंखे की वायु उसकी कटि को झुका देती है। अतः वह बाहर निकलकर निर्जन वन में जाने में असमर्थ है। उनका कथन इस प्रकार है—

चरन धरै न भूमि बिहरै जहाँई तहाँ,
फूलें फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन पै,
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है ॥
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसे वह बाल लाल बाहेर बिजन आवै,
बिजन बयारि लागे लचकति लंक है ॥

नारी के इस परम सुकुमार स्वरूप की वन्दना करने वाले कवियों ने कहीं-कहीं पर नारी के स्वरूप-वर्णन में उपर्युक्त छन्द के समान ही अतिशयता का आश्रय ग्रहण किया है। यह अतिशयता कहीं-कहीं पर अमर्यादित भी हो गई है। ऐसे स्थल खटकते हैं।

इन समस्त चित्रों के अतिरिक्त नारी का एक अन्य चित्र भी उपलब्ध होता है उसे हम उसका दासी-स्वरूप कह सकते हैं। नारी को क्रीतदासी के रूप में देखने का दृष्टिकोण सम्भवतः मुसलमानों से प्राप्त हुआ होगा। 'आतिश' कवि कहते हैं—

तलब दुनिया को करके जन बुरीदी हो नहीं सकती।
हमें तो याद अपनी हिम्मते मरदाना आती है ॥

उपर्युक्त उर्दू के शेर में 'ज़नबुरीदीं' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द यहाँ पर 'स्त्रैण भावना' का द्योतक है परन्तु नारी की पूजा न करके उसे क्रीत दासी मान लेना उसके साथ घोर अन्याय करना है। एतदर्थ यहाँ पर कवि द्वारा अभिप्रेत भाव यदि नारी के प्रति घृणा का प्रचारक मान लिया जाय तो यह निश्चित है कि नारी के प्रति न्याय नहीं किया गया।

हमारे देश में नारी की पूजा देवी के रूप में होती रही है यही कारण है कि धार्मिक अवसरों पर पुरुष के साथ नारी को अनिवार्य स्थान प्रदान किया जाता था और बिना नारी के यज्ञादिक अनुष्ठान सम्पन्न ही न हो सकते थे। यह सब कुछ होने पर भी नारी की स्थिति में थोड़ा बहुत अन्तर आ गया और वह भी दासी के रूप में देखी जाने लगी। महाकवि तुलसीदास ने भी लिख डाला—

कत बिधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥

नारी की इस विषम-स्थिति का बोध कवि-कुल-गुरु महामनीषी कवि तुलसी को न होता यह कैसे सम्भव था? अतः वह किसी न किसी रूप में प्रगट हो ही गया।

मैथिलीशरण गुप्त ने नारी के सम्बन्ध में कितना स्पष्ट कहा है—

नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन,
हैं नारी को ही लेकर।
अपने लिए सभी सुविधाएँ,
पहले ही कर बैठे नर॥

प्रसाद ने नारी के साथ न्याय करने की चेष्टा की है परन्तु श्रद्धा के प्रति किए गए मनु के अत्याचारों को वह भी नहीं रोक पाए और समझा बुझाकर उसी के अश्रुओं को पोंछने लगे—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष-श्रोत सी बहा करो,
ज़ीवन के सूने समतल में॥

आंसू से भीगे अंचल में,
मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मित रेखा से,
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।।

पन्त का स्वर अधिक स्वतन्त्रता के साथ यह घोषणा कर सका है—

मुक्त करो नारी को मानव,
चिर वन्दिनि नारी को।
युग युग की बर्बर कारा से,
जननि, सखी, प्यारी को।।

कवि का यह आदर्श सर्वथा स्तुत्य है।

---

१०. यथार्थवाद और आदर्शवाद

यथार्थवाद और आदर्शवाद के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने स्वतन्त्र मत व्यक्त किए हैं। सामान्य रूप से एक का यथार्थ अन्य के लिए आदर्श बन सकता है और अन्य का यथार्थ सम्भव है कि किसी तृतीय व्यक्ति का आदर्श रहा हो। इस अनिश्चित परिस्थिति में यह कह सकना सरल नहीं कि आदर्श से यथार्थ में क्या निश्चित अन्तर हो सकता है तो भी जीवन के भौतिक संघर्षों के मध्य में जीवन के उत्कर्षापकर्ष तथा अंतर्द्वन्द्वमयी परिस्थितियों का चित्रण ही यथार्थ के द्वारा अभिहित किया जा सकता है।

यथार्थ में हमारे मानसिक भावों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है। इस यथार्थ का उपभोग अनेक कवियों को आकर्षित कर सका है। हिन्दी के महाकवि सूरदास की गोपियाँ आदर्शवादी उद्धव को फटकारती हुई कहती हैं कि आदर्शवादी दृष्टिकोण को मानकर हम लोग क्या करेंगी? यदि तुम्हारे आदर्शों में कुछ बल हो तो अपने ब्रह्म को मुकुट पीताम्बर पहनाकर सामने खड़ा कर दो। यदि तुमसे इतना भी नहीं हो सकता तो हमारा यथार्थवाद तुम्हारे आदर्शवाद से कहीं बढ़कर है। उनका कथन है—

तब हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावौ ऊधौ मुकुट पिताम्बर धारी॥

उद्धव जब अपने ब्रह्म को मुकुट पीताम्बर पहनाकर उनके समक्ष न ला सके तब गोपियों ने कहा कि इस आदर्शवाद से तो हमारा यथार्थवाद ही अधिक शक्तिशाली है। उनके कृष्ण मुकुट पीताम्बर धारण करने वाले तथा मुरली बजाकर उन्हें रिझाने वाले भी हैं। भला, ऐसी सुन्दर झांकी को छोड़कर वे उद्धव के आदर्शवादी विचारों का ग्रहण क्योंकर करतीं? 'रत्नाकर' की गोपिकाएँ और भी विलक्षण हैं। वे उद्धव को कोरा जवाब देती हैं कि आदर्शवाद की बातें वे किसी और के पास जाकर करें। उन्हें तो आत्मतृप्ति का साधन केवल कृष्ण में ही दिखाई पड़ता है ब्रह्म में नहीं। उनकी भावभरी उक्ति का आस्वादन कीजिए—

हम परतच्छ में प्रमान अनुमानैं नाहिं,
तुम भ्रम-भौंर में भले ही बहिबौ करौ।

गोपिकाओं की दृष्टि में यथार्थ तो प्रत्यक्ष होता है और आदर्श अप्रत्यक्ष होने के कारण भ्रम-भौंर के समान मनुष्य को अज्ञात की ओर बहा ले जाने वाला होता है। अतः उन्हें प्रत्यक्ष पर ही विश्वास है अप्रत्यक्ष पर नहीं।

उमरख़य्याम इस यथार्थ का इतना अनुरागी था कि उसकी दृष्टि में आदर्शवाद की कल्पना करना भी मूर्खता थी। वह सुरा-सुन्दरी का उपासक होकर नग्न यथार्थ का पुजारी बन गया। उसकी कल्पना भी कम उल्लेखनीय नहीं। वह कहता है—

अन्यायी जग के दुःखों में ग्रस्त न रख तू अपने को।
उनकी निर्मम याद मत दिला मरकर गए यहाँ से जो॥
किसी प्रियतमा की अलकों में निश्चय ही निज हृदय फंसा।
बिना सुरा के कभी न रह तू इस जीवन को व्यर्थ न खो॥

उमरख़य्याम के इस कथन में उसकी कल्पना का चमत्कार एक भौतिकवादी शराबी के समान देखने को मिलता है। यह शराबीपन काव्य के आनन्द को नष्ट कर देता है। निश्चय ही समाज को सुरापान की आवश्यकता नहीं उसे तो सुधा-पान कराने की आवश्यकता है जिसके द्वारा वह अमर हो सके और उसकी गति में शिथिलता न आने पावे। यह यथार्थवाद नग्न भौतिकवाद के अतिरिक्त और क्या है ?

अब ज़रा, हिन्दी के खड़ी बोली के कवियों के काव्य का अवलोकन कीजिए। 'बच्चन' उमरख़य्याम के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं—

सोम सुरा पुरखे कहते थे हम ,कहते उसको हाला।
द्रोण-कलश जिसको कहते थे आज वही मधुघट आला॥
'वेद-विहित यह रस्म न छोड़ो वेदों के ठीकेदारो।
युग युग से है पुजती आई नई नहीं है मधुशाला।

यह तो शराबीपन का राग हुआ। अब तनिक उनके प्रकृति-वर्णन पर भी दृष्टिपात कीजिए। उनका कथन है—

कहते हैं तारे गाते हैं।
सन्नाटा वसुधा पर छाया नभ पर हमने ध्यान लगाया।
फिर भी अगणित कण्ठों का यह गान नहीं हम सुन पाते हैं॥

ऊपर देव, तले मानवगण, नभ पर दोनों गायन-रोदन।
गान सदा ऊपर को उठते आँसू नीचे झर जाते हैं॥
स्वर्ग सुना करता यह गाना पृथ्वी ने तो बस यह जाना।
अगणित ओस कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं॥

अपने उक्त दोनों कथनों में कवि ने यथार्थवाद का एकान्त समर्थन किया है। प्रथम उक्ति के द्वारा कवि ने समस्त आदर्शों की अवहेलना करते हुए उन सभी को सुरापान का सहायक ही माना है। अपनी द्वितीय उक्ति में भी उसने स्वर्ग का नाम लेकर देवों के अनिश्चित आदर्शों की कल्पना करके उसे पृथ्वी के प्राणियों के हित में अनुपयोगी ठहराया है, तभी तो वह कहता है कि तारों के गीत को स्वर्ग सुनकर प्रसन्न भले होता हो परन्तु मृत्युलोक के दुखी प्राणी तो उसे तारागणों का रोदन समझकर केवल दुःख का अनुभव करते हैं। इस शोक का प्रमाण भी ओसकणों के रूप में विद्यमान है। फिर भला आदर्शवादी कल्पना के लिए स्थान कहाँ?

कवि एक अन्य स्थल पर जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देता हुआ कहता है कि चाहे नेतागण आदर्शवाद की बातें कितना ही बढ़ा चढ़ाकर क्यों न करें परन्तु यदि वे यह समझते हों कि उनके इन कथनों के प्रभाव से जीवन की गति में परिवर्तन आ जावेगा, तो वे भूलते हैं। कवि कहता है—

जग बदलेगा किन्तु न जीवन।

जब जीवन के बदलने की कोई आशा नहीं तो फिर खुलकर उसका उपभोग क्यों न कर लिया जाए। महात्मा सूरदास का मन भी इस भौतिक यथार्थवाद की पूर्ति की ओर एकबार झुक ही गया था और वह भी कहने लगे थे।

रहु री मानिनि मान न कीजै।
यह जोबन अंजुरी को जल है,
ज्यों गुपाल मांगै त्यों दीजै॥

फिर इन खड़ी बोली के आधुनिक कवियों को ही दोष क्यों दिया जाय?

प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार का यथार्थवादी साहित्य समाज के लिए उपयोगी हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि समाज का सङ्गठन यथार्थवादी होने पर भी उसके समक्ष आदर्शों का होना नितान्त आवश्यक है। आदर्श विहीन समाज मृत होगा। उसमें घोर पशुता होगी। इस प्रकार के समाज का विनाश शीघ्रातिशीघ्र होगा। ये आदर्श विश्वास बनकर सामने आने चाहिए तभी जीवन सुखकर बनेगा। पन्त जी ने कहा है—

सुन्दर विश्वासों से ही,
बनता रे! सुखमय जीवन।

यहाँ पर अन्य साहित्यकारों की आदर्शवादी देन का विस्मरण करना भी कठिन है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है।

जीवन कर फल विषय न भाई।
भजिय राम सब काम बिहाई॥

कवि के उक्त कथन से कामरहित होकर आध्यात्मिक आदर्शों की ओर जाने की प्रेरणा मिलती है। आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा ही मानव की बुद्धि का उज्वल हो सकना सम्भव है। अतः उनके द्वारा इसी आदर्शवाद की प्रेरणा प्राप्त होती है। उनके काव्य में आदर्शवादी राम का लोकपावन चरित्र विजयी हुआ है और घोर भौतिकवादी रावण पराजित होकर विनाश को प्राप्त हुआ है। हम इसे भौतिकता पर आध्यात्मिकता या सात्विकता की विजय कह सकते हैं। राम ने ईश्वरत्व को छोड़कर भी नरलीला की है। इसका अर्थ यह हुआ कि आदर्श स्वर्ग से उतरकर धरा पर आ गया। उसने जीवन के कटु यथार्थों का सामना भी किया और उन यथार्थों के मध्य में रहकर भी वह निष्कलुष बना रहा। यही मानव मात्र का लक्ष्य होना चाहिए।

यथार्थवाद के द्वारा जीवन का जो संघर्ष ध्वनित होता है उसकी उपस्थिति अनिवार्य होने पर भी यदि आदर्शवाद उन सभी विपत्तियों को झेलता हुआ यथार्थवाद के मध्य में रह सके तो निस्सन्देह विश्व का महान कल्याण होगा।

———

११. भारतीय नारी पर पाश्चात्य प्रभाव

भारतवर्ष वह देश है जहाँ पर संस्कृति और सभ्यता के प्राचीनतम प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस देश के नारी समाज ने सदैव अपने उज्वल आदर्शों के कारण विश्व में ऊँचा स्थान पाया है। इसका एक कारण यह भी था कि भारतीय नारी में सतीत्व था। सती सीता, अनुसूया, सुलोचना, तथा सावित्री आदि की कथाएं इनकी पुष्टि करती हैं।

नारी का सर्वोच्च आदर्श पति सेवा है। पति की सेवा ही परमेश्वर की सेवा है क्योंकि इस पृथ्वी पर पति के अतिरिक्त उसका अन्य कोई आधार नहीं होता। भारतीय परम्परा के अनुसार पति के स्वर्गस्थ होते ही नारी भी अग्नि में प्रवेश कर जाती थी। इस प्रथा का अवलम्बन पर्याप्त काल तक होता रहा, परन्तु अंग्रेजी-शासन स्थापित होने के साथ ही यह प्रथा भी समाप्त कर दी गई। सम्भव है इस प्रथा का दुरुपयोग किया जाने लगा हो और असती नारियों ने इसका विरोध किया हो तथापि इस प्रथा के महत्त्वपूर्ण परिणाम सतीत्व-रक्षण के कारण हमारा मस्तक आज भी ऊँचा है।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने नारी को 'अबला' शब्द से सम्बोधित किया है। वास्तव में भारतीय नारी के पति परायण होने के कारण उसका एक मात्र आधार पति ही होता रहा है। यही कारण है कि वह स्वतन्त्र रूप से कभी भी जीवन-संघर्षों का सामना न कर सकी और उसकी सारी शक्ति पतिसेवा तक ही सीमित होकर रह गई। तभी तो गुप्त जी कहते हैं :—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

प्रसाद जी ने नारी को और अधिक ऊँचा स्थान प्रदान किया और यह बतलाया कि नारी पुरुष की सहधर्मिणी होने के कारण उसके समान स्थान प्राप्त करने का अधिकार रखती है परन्तु इसके साथ ही यदि नारी पाश्चात्य-स्वरूप धारण न करके भारतीय नारी के समान ही सेवा और त्याग का व्रत

अपनावे तो कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा। प्रसाद जी की यह अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है :—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास-रजत-नग पग-तल में।
पीयूष-स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सूने समतल में॥
आँसू से भीगे अंचल पर,
मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मित-रेखा से,
यह संधिपत्र लिखना होगा॥

'हरिऔध' जी ने नारी को आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुसार नए साँचे में ढालने का उद्योग किया है अतएव उसमें कुछ नवीन भावनाएं देखने को मिलती हैं जिसका अन्य कवियों के द्वारा चित्रित नारी में अभाव है। उनकी राधा में न रीतिकाल की वासना-वृत्ति का प्रभाव है और न इस यन्त्र-युग की स्वार्थपरता का ही। वह परम निस्वार्थ लोकसेवारता विलक्षण नारी है। उसका वर्णन इसप्रकार किया गया है :—

राधा थीं सुमुखी विशाल नयना,
आनन्द-आन्दोलिता।

इसके साथ ही—

रोगी वृद्धो जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।

उनके उपर्युक्त कथनों से उनके मानस में व्याप्त नारी-सौन्दर्य के प्रति उज्वल आदर्श की कल्पना अभिव्यक्त हुई है। यह कहना अनुचित न होगा कि 'हरिऔध' जी का वह दृष्टिकोण बहुत कुछ पाश्चात्य नारी के लोकसेवामूलक आदर्शों से प्रभावित हुआ है।

अब हमें यह देखना है कि भारतीय नारी पर पाश्चात्य प्रभाव किस सीमा तक पड़े हैं? भारतीय नारी ने पाश्चात्य देशों की नारियों का अनुकरण करते हुए पर्दा-प्रथा का परित्याग कर दिया और स्कूलों और कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने लगी। इसका परिणाम जहाँ एक ओर यह हुआ कि उसके विचारों में प्रगतिशीलता आई तथा उसने विश्व के नारी-समाज के मध्य में विचरण करना प्रारम्भ कर दिया वहीं पर उसमें कुछ दुर्गुण भी आ गए।

वह आवश्यकता से अधिक कोमल बन गई और उसने पाश्चात्य शिक्षा के रंग में रंगकर घर के कामकाज करने भी बन्द कर दिए। इसके अतिरिक्त उसकी अधिकारलालसा इतनी अधिक बढ़ी कि उसने इस क्षेत्र में पुरुषों से होड़ सी प्रारम्भ कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक एवं शैक्षिक सभी क्षेत्रों में अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा का एक दुष्परिणाम यह भी देखने में आ रहा है कि शिक्षित स्त्रियाँ संयुक्त-परिवार-प्रणाली पर भी विश्वास नहीं रखतीं और इसी कारण अनेक परिवारों में आर्थिक सङ्कट भी उत्पन्न हो जाते हैं।

पाश्चात्य शिक्षा का कुप्रभाव इन भारतीय ललनाओं पर इतना अधिक पड़ता है कि वे अपने धर्म, संस्कृति एवं आचार-विचारों तक को भूल जाती हैं। यह स्थिति शोचनीय है।

यदि भारतीय नारी पश्चिम की केवल उन्हीं बातों को ग्रहण करे जो कि राष्ट्रनिर्माण के लिए अतीव आवश्यक हैं साथ ही जो बातें राष्ट्रनिर्माण में बाधक हैं उसका परित्याग करे तो निश्चय ही उसके द्वारा राष्ट्र का महान् कल्याण हो सकता है। भारतीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिए सभी को तन, मन तथा धन से उद्योग करना चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के द्वारा हम अन्य देशों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं परन्तु जब तक उस अर्जित ज्ञान के द्वारा हम अपनी भारतीयता का शृंगार न करेंगे तब तक वह ज्ञान अधूरा कहलाएगा। भारतीयता का शृङ्गार पाश्चात्य ज्ञान के द्वारा किया जाए परन्तु भारतीयता की मूलवृद्धि के ही लिए न कि भारतीयता समाप्त करके उसके स्थान पर अभारतीयता की प्रतिष्ठा करने के लिए। भारत स्वयं आदर्श रहा है। अतः भारतीयता का मूल्य और महत्त्व कम नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी मौलिकता में वृद्धि करते रहें।

---

१२. भारत में सैनिक शिक्षा

प्राचीनकाल से ही हमारा देश अपने क्षात्रबल द्वारा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करता रहा है। अपने पौरुष का विस्तार भी क्षात्र धर्म के द्वारा ही होता रहा है। अनेक राजा महाराजाओं ने अश्वमेध यज्ञ करके अपने बल और पराक्रम का विस्तार संसार के अन्य देशों में भी किया था। महाराजाधिराज रामचन्द्र जी के अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा उन्हीं के दोनों पुत्रों (लव तथा कुश) के द्वारा रोक लिया गया था तथा प्रतिरोध के उत्तर में रामदल के योद्धाओं ने घोर युद्ध किया था। इस इतिहास-विश्रुत लौकिक गाथा में क्षात्र-धर्म का महत्त्व ही सर्वोपरि था।

हमारे देश के प्राचीन नरेशों ने तो अपने क्षात्र-धर्म को पर्याप्त विकास प्रदान किया ही था परन्तु आगे चलकर जब मुसलमान और अंग्रेज इस देश में आए तो उन्हें भी भारतीय क्षत्रियों से प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। उस समय क्षात्र-बल के ही सहारे युद्धों का सञ्चालन सम्भव होता था। मुसलमानों एवं अंग्रेज़ों ने इस देश पर जो अधिकार प्राप्त किया उसका कारण यह नहीं था कि उनमें वीरता अधिक मात्रा में थी वरन् उसका एकमात्र यही कारण था कि उन्होंने अपनी कूटनीति के द्वारा किसी प्रकार भारतीय क्षत्रिय-नरेशों के सङ्गठनों में विभेद डालकर उनमें से एक पक्ष को सदैव अपनी ओर मिला लिया और इस प्रकार विजय प्राप्त कर ली।

अंग्रेज़ों ने इस देश पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अपनी दमन-नीति के द्वारा देशवासियों के मन में प्रवाहित होने वाली देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं को ही नष्ट करने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने इस देश का इतिहास तक बदल डालने की कुचेष्टा की; तो भी वे क्षात्र बल को नष्ट कर सकने में समर्थ न हो सके। देश में क्रान्ति की लहरें उठीं और देश के क्रान्तिकारियों ने अनेक अवसरों पर बल का प्रदर्शन कर दिखाया। इस क्षात्र बल की अधिक कठिन परीक्षा अहिंसा आन्दोलनों के द्वारा हुई और सहन-शीलता एवं कष्ट सहिष्णुता की चरम अभिव्यक्ति करके वीरों ने देशको स्वतन्त्र बनाया।

देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् अनेक वाह्य एवं अभ्यान्तरिक संघर्षों का भय उपस्थित हो गया और देश के कर्णधारों का ध्यान उसकी सुरक्षा की ओर सर्वप्रथम गया। इस सुरक्षा के लिए अहिंसा का अस्त्र बेकार सिद्ध होता अतः सशस्त्र सेनाओं का संगठन करना पड़ा। देश को स्वतन्त्र हुए अधिक समय भी नहीं बीता था कि हैदराबाद और काश्मीर के विवाद आ खड़े हुए। कहना नहीं होगा कि अपनी सैनिक शक्ति के द्वारा ही देश ने इन दोनों स्थानों पर शत्रु सेनाओं को पराजित कर दिखाया।

इस स्वतन्त्र देश में सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था सन्तोषजनक है। सैन्य-प्रशिक्षण-विद्यालयों के अतिरिक्त सभी विद्यालयों में वयस्क बालक, बालिकाओं को सैनिक-शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। दक्षिण भारत में तो सैनिकाओं की शिक्षा का भी सुप्रबन्ध किया गया है।

इस समय संसार के समस्त राष्ट्र दो दलों में विभाजित हैं। एक दल का नेता अमेरिका तथा दूसरे का नेता रूस है। दोनों देश भयानक से भयानक क्षेप्यास्त्रों का निर्माण कर रहे हैं। ऐसी अशान्तिपूर्ण स्थिति में विश्व की शान्ति एवं व्यवस्था का भविष्य ही अन्धकारमय हो गया है। ऐसे समय में प्रत्येक स्वतन्त्र देश को अपनी सुरक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करना ही चाहिए।

यदि विश्व-व्यापी युद्ध का सूत्रपात हुआ तो भारत भी अपने को उससे पृथक कैसे रख सकेगा ? अतः शान्ति-प्रयासों के साथ ही देश को सैन्य एवं शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करने की भी नितान्त आवश्यकता है।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि भारत ने अल्पकाल में ही अपनी सैन्य-व्यवस्था को इतना अधिक बलशाली बना लिया है कि अब उसे संसार की किसी भी शक्ति का भय नहीं रहा। सैनिक-शक्ति के साथ ही हमारी वैदेशिक-नीति एवं कूटनीतिक विभाग की शक्ति भी विश्व के महान् राष्ट्रों के समान ही है। अतः इस दिशा में किए गए हमारे प्रयासों में सफलता की ही आशा है।

---

१३. हिन्दी प्रचार

हिन्दी को भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया जा चुका है फिर भी उसका यथोचित प्रचार नहीं हो पाया। खेद की बात तो यह है कि अनेक नेता तथा विद्वान आज भी हिन्दी का विरोध करके उसके स्थान पर अंग्रेजो को प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं। इस विरोध और संघर्ष का मूल कारण यह है कि अहिन्दी भाषी प्रान्तों के निवासी हिन्दी के अधिक प्रचार से भयभीत हैं। वे यह समझते हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर केवल हिन्दी-भाषा भाषी प्रान्त के निवासियों को ही राजकीय प्रशासनिक पद प्राप्त हो सकेंगे अहिन्दीभाषियों को नहीं। उनका यह भय उचित नहीं है और सर्वथा उचित होने पर भी अंग्रेजी को बनाए रखना भी मूर्खतापूर्ण है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कोई मध्यवर्ती मार्ग अपनाया जाय।

हिन्दी के समर्थक जिस हठवादिता के साथ हिन्दी का प्रचार करने में संलग्नहैं वह नितान्त अव्यावहारिक है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए न्यायशास्त्र के तर्कों या संविधान का आश्रय लेना उचित नहीं। इस व्यावहारिक बात का समर्थन तर्क के द्वारा नहीं अपितु भावनाओं के द्वारा ही कराया जा सकता है। 'हमारा देश', 'हमारी भाषा' इत्यादि के नारे देश में फूट और कलह को ही जन्म दे सकते हैं रचनात्मक रूप से उनके द्वारा देश का कोई भी हित नहीं हो सकेगा। हिन्दी के प्रचारकों को अपनी भाषा का प्रचार करते समय अहिन्दी भाषियों की भावनाओं को भी समझना पड़ेगा क्योंकि उसके अभाव में उनका अभीष्ट लक्ष्य सिद्ध हो सकना कदापि सम्भव नहीं है। जो लोग यह सोचते हैं कि संविधान बन जाने के कारण ही सभी को हिन्दी पढ़ने के लिए विवश किया जा सकता है वे भयानक भूल करते हैं। राजशक्ति के बल पर किसी भी भाषा का प्रचार कर सकना असम्भव है। "हिन्दी-विरोधी राष्ट्रद्रोही है" या "हिन्दी न जानने वाला अर्ध शिक्षित है" कहना

हिन्दी के प्रचार में बाधक सिद्ध हो सकता है। इसका कारण यह है कि आज भी समस्त राष्ट्र में अहिन्दी भाषियों की ही संख्या अधिक है। हिन्दी भाषा का प्रचार प्रेमपूर्वक किया जा सकता है घृणापूर्वक नहीं। यह कहना उचित होगा :—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नैव कश्चित् घृणोतिमे।
प्रेमतः योगतो हिन्दीं प्रचाराय न चान्यथा॥

संविधान को ही पत्थर की लकीर मानने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि मनुष्यकृत संविधान परिवर्तित भी किया जा सकता है। यदि वहुसंख्यक अन्य भाषाभाषी जनता संविधान को बदलना ही चाहे तो यह कार्य कठिन न होगा। अतः केवल संविधान के सहारे हिन्दी-प्रचार का स्वप्न देखना नितान्त मूर्खता हैं। इस प्रकार के गृह-कलह का परिणाम यही होगा कि हिन्दी के स्थान पर पुनः अंग्रेजी ही पूर्वतत् बनी रहे तो अत्युत्तम होगा।

जो विद्वान यह कहते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लेने पर हमारे ऊपर लगाया जाने वाला दासता का लाञ्छन नहीं रहेगा और विदेशियों की दृष्टि में हमारा सम्मान बढ़ेगा वे वास्तविक एवं व्यावहारिक तथ्य को उचित रीति से समझने में असमर्थ हैं।

हिन्दी-प्रचारक को यह सोच लेना चाहिए कि हिन्दी प्रचार के मार्ग में जो बाधायें उपस्थित हो रही हैं उनका मुख्य कारण क्या है। यदि गम्भीरता-पूर्वक सोचा जाय तो यही ज्ञात होगा कि अहिन्दी भाषियों को हिन्दी के प्रति जो आशङ्कायें हो रही हैं वे सर्वथा स्वाभाविक हैं। विदेशी शासनकाल में अधिकांश अहिन्दी भाषियों को ही प्रशासनिक पदों पर उन्नति प्राप्त होती थी और राजकीय सेवाओं में उनका मुख्य भाग रहता था इससे यही सिद्ध होता है कि अहिन्दी भाषियों में बुद्धिबल की कोई कमी नहीं थी ऐसी दशा में केवल हिन्दी न जानने के कारण ही यदि उनको अनेक सुविधाओं से वञ्चित कर दिया जाय तो यह उनके साथ अन्याय होगा।

हिन्दी के विद्वान 'अखिल भारतीय प्रशासनिक क्षेत्र' (I. A. S) की परीक्षा को भी हिन्दी में ही कराने की बात कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यही निकलता है कि अहिन्दीभाषी जनता को केवल भाषा-ज्ञान के

आधार पर उच्चशासन के अयोग्य ठहराया जायगा। यह नीति कदापि स्तुत्य नहीं है।

आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ एक ओर अहिन्दीभाषी हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त करें वहीं दूसरी ओर हिन्दी भाषाभाषी भी अहिन्दी भाषाओं का अध्ययन करें। इस प्रकार के पारस्परिक प्रेम और सहयोग से हिन्दी भाषा को उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा।

---

१४. हिन्दी कविता में रहस्यवाद

हिन्दी के अनेक कवि अनन्त की रहस्यमयी सत्ता का उद्घाटन ऐसी क्लिष्ट एवं दुरूह शैली में करते हैं कि उनके भावों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। अनेक आलोचक इस प्रकार की कविताओं को रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं। 'रहस्य' का अर्थ 'गूढ़ता' लगाना उनकी बुद्धि की विलक्षणता है। रहस्यवाद वही प्राचीन दार्शनिक विषय है जो शताब्दियों तक हमारे चिंतकों एवं विचारकों का विषय रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक लिखा है कि तर्क और ज्ञान में तथा बुद्धिवाद के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही कल्पना तया भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।

रहस्यवाद में मानसिक स्थिति का एक चित्र देखने को मिलता है जो सत्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। हिन्दी के कवियों में कबीरदास ने इसका व्यवहार सर्वप्रथम किया है। उन्होंने उपनिषदों के सर्वात्मवाद तथा ब्रह्मवाद में माधुर्य-भावना का समावेश करके काव्यगत रहस्यवाद को जन्म दिया। डा० श्यामसुन्दरदास ने उनके रहस्यवाद के विषय में लिखा है— "कबीर ने असीम प्रियतम के सामने जीवात्मा को स्त्री माना है।"

कबीर के रहस्यवाद की दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी में आत्मा परमात्मा से माया के द्वारा पृथक कर दी जाती है तथा द्वितीय श्रेणी में माया के नष्ट होने पर आत्मा परमात्मा से मिल जाती है। इसी की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है यथा—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत् कथौं गियानी॥

यहाँ पर कुम्भ के रूप में माया है जिसके नष्ट हो जाने पर जल रूपी आत्मा सागर रूपी परमात्मा से मिल जाती है।

कबीर ने अपने रहस्यवाद में सूफीमत का आधार भी लिया है। सूफी कवियों द्वारा व्यवहृत रहस्यवाद की व्याख्या में महादेवी वर्मा ने लिखा है—

"सूफ़ीमत के रहस्यवाद में अवश्य ही प्रेमजनित आत्मानुभूति है और चिरन्तन प्रियतम का विरह समाविष्ट है।" सूफ़ी कवियों के रहस्यवाद में प्रेम का अखण्ड राज्य मिलता है। उसके अनुसार ईश्वर को प्रियतमा तथा जीव को पति के रूप में माना गया है। प्रेमिका तथा प्रेमी दोनों ही प्रेम-पीड़ित होकर एक दूसरे को खोजते फिरते हैं। इन कवियों ने भी कबीर की भाँति गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वह कहते हैं—

गुरू बिरह चिनगी जो मेला।
जो सुलगाइ लेइ सो चेला।।

सूफ़ी काव्य की प्रधान विशेषता 'प्रेम की पीर' के समावेश में है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"सूफ़ियों के अनुसार सारा संसार एक ऐसे प्रेम-सूत्र में बंधा है जिसका अवलम्बन करके जीव उस रहस्यमय मूर्ति तक पहुँच सकता है।" ये कवि 'ईश्वर के विरह' को प्रधान सम्पत्ति मानते थे यथा—

'विरह अवधि अवगाह अपारा'

आधुनिक रहस्यवादिनी कविता का मूल स्रोत विश्व कवि टैगोर तथा अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ की रचनाओं से मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य में भी यही दोनों प्रभाव देखने को मिलते हैं। इन कविताओं का माध्यम गीतिकाव्य है। गीतिकाव्य द्वारा भावनाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण सरलता से किया जा सकता है इसीलिए रहस्यवादिनी कविताओं का स्फुरण गीति-काव्य में हुआ है।

आधुनिक खड़ी बोली की कविता में विरह-वेदना और प्रेम की पीर का जितना मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है उतना पहले कभी नहीं हो पाया था। महादेवी वर्मा ने लिखा है—"सुख दुख में समता हो तो सफल जीवन की कुन्जी है। यही तो आत्मा की प्यास बुझाने के लिए सुधा-विन्दु है। मानव जिसको युगों से ढूंढ़ रहा था वह काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद के रूप में मिला।" महादेवी अपने उपास्य की आराधना में जिस दुःखवाद का अनुभव करती हैं वही उनको प्रिय के समीप पहुँचाता है वह कहती हैं—

एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा निर्माण के वरदान शतशत।।
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में।
कौन तुम मेरे हृदय में ?

उन्हें विरह में जो सुख है वह मिलन में नहीं तभी तो वे कहती हैं—

"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूं।"

इसका एक यही कारण है कि मिलन होने के पश्चात् हृदय के भावों का संघर्ष समाप्त हो जाता है परन्तु विरह में वह संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। कबीर और जायसी के पश्चात् रहस्यवाद की परम्परा को जितना सफलता से उन्होंने अग्रसर किया है उतनी सफलता से अन्य कवि नहीं कर सके।

हिन्दी के वर्त्तमान कवियों में महादेवी के अतिरिक्त 'निराला' के काव्य में भी रहस्यवाद मिलता है। उनके रहस्यवाद का मुख्य आधार दार्शनिकता है। उनके रहस्यवाद में आत्मा और परमात्मा के मिलन की भूमिका के साथ ही रहस्यवाद की भावना नहीं मिलती वरन् उसमें वेदान्त-तत्त्व की की प्रतिष्ठा है। उन्होंने रहस्यवाद में स्त्रीत्व का अनुसरण नहीं किया। इस प्रकार की रहस्यवादिता उनकी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में देखने को मिलती है तथा—

तुम तुङ्ग हिमालय श्रृङ्ग,
और मैं चंचल-गति सुर सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छवास,
और मैं कांत कामिनी कविता॥

दार्शनिकता की प्राप्ति के लिए इस संसार से विरक्त होना आवश्यक है इसीलिए विश्व की माया तथा नश्वरता के प्रति कवि अपना उपेक्षा भाव व्यक्त करता हुआ कहता है—

देख चुका जो आए थे, चलै गए।

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा 'भारतीय आत्मा' की कविताओं में भी कहीं-कहीं पर रहस्यवाद देखने को मिलता है। 'प्रसाद' का रहस्यवाद भी सुविख्यात है। उसके रहस्यवाद का सुझाव आध्यात्मिकता की ओर है यथा—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते हैं स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
हे विराट! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान,
मंद गंभीर धीर स्वर संयुक्त यही कर रहा सागर गान॥

पन्त के काव्य की क्लिष्टता को देखकर ही कतिपय आलोचकों ने उनके काव्य को रहस्यवादी कहना प्रारम्भ कर दिया है। अन्योक्तियों के

आधिक्य के कारण उनकी शैली दुरूह प्रतीत होती हैं। अतः उनके काव्य को यदि, विस्मयवादी' कहें तो अत्युक्ति न होगी।

हिन्दी के प्राचीन कवि कबीरदास ने जिस रहस्यवाद का व्यवहार अपने काव्य में किया था उसको कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी ग्रहण किया और अनेक कवियों ने अपनी-अपनी शैली में उसे अभिव्यक्त किया है।

इस रहस्यवादी आध्यात्मिक देश में ईश्वरोन्मुख और लोकोपकारक रहस्यवाद प्रचलित हुआ और उसमें आनन्द तथा सुख के तत्त्व समाविष्ट हो गए।

---

१५. हिन्दी कविता में छायावाद

द्विवेदी-युग में नीतिप्रधान तथा इतिवृत्तात्मक रचनाओं को प्रोत्साहन मिला। इस युग में प्रेम, सौन्दर्य, शृङ्गार एवं आनन्द के लिए कोई स्थान न था। अत्यधिक सुधार एवं नैतिक उत्थान की भावना ने समस्त साहित्य को जड़ बना दिया था। यही कारण है कि हृदय की स्वाभाविक एवं मृदु भावनाओं को साकार बनाने के हेतु कवि विकल हो उठे। उनकी विकलता ने विद्रोह का रूप ले लिया और छायावादी कविता का जन्म हो गया। छायावाद को "सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह" मान सकते हैं।

रीतिकालीन कवि अपने काव्य को वासना के नग्न चित्रों से भरने का प्रयास करते थे। उनके काव्य में उपयुक्त उपमानों में एक रूढ़िवादिता थी। छायावादी कवियों को यह भावना भी पसन्द नहीं आई। अतः उन्होंने नारी की इस प्रकार की नग्न प्रतिमाएँ न गढ़कर उसके रूप को रंग बिरंगे परिधानों से सजाया है। उन्होंने अभिधा के स्थान पर लक्षण-शक्ति का प्रयोग किया है। उस काव्य में वायवीपन, संसार से पलायन-वृत्ति, कलात्मकता, एवं निराशावाद के स्वर ही विशेष रूप से मुखरित होते हैं।

छायावादी काव्य में तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इस काव्य में नारी तथा प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोणों की नवीनता भी उपलब्ध होती है। कवियों ने इस दृष्टिकोण को अधिक पुष्ट बनाने के लिए शास्त्रों, उपनिषदों तथा दर्शनों आदि का अध्ययन किया था।

कवियों ने रीतिकालीन अत्येन्द्रियतामय शृङ्गार का बहिष्कार करके प्रेम की परिभाषा ही बदल दी। 'प्रसाद' जी कहते हैं :—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
शान्त भवन में टिक रहना।'

सामयिक परिस्थितियों के रूप में घोर निराशावाद ने भी इन कवियों को प्रभावित किया। कविगण देश तथा जीवन की स्थूल समस्याओं के प्रति पराङ्मुख होकर, आन्तरिक आनन्द प्राप्त करने में लग गए। अतः उनकी

वृत्ति बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो गई। आगे चलकर इसी वृत्ति का नाम 'पलायनवादी' वृत्ति पड़ गया।

छायावादी काव्य को स्पष्ट करने के लिए हिन्दी से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम।
मधुर राग तू मैं स्वर संगम, तू असीम में छाया का भ्रम।
काया छाया में रहस्यमय, प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?

(२) मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल।

(३) जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के,
सूखते नक्षत्र-जल के बिन्दु से।
रश्मियों की कनक धारा में नहा,
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे।
स्वप्नशाला में जवनिका डाल दो,
तब दृगों को खोलता वह कौन है॥

(४) अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौना सा॥

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में दार्शनिक सिद्धान्तों की ओट में छायावाद आया है, द्वितीय उद्धरण में करुणा मुखरित हुई है, तृतीय उद्धरण में प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप करके छायावाद लाया गया है तथा चतुर्थ उद्धरण में भक्ति के आधार पर मानवीय भावों की व्यञ्जना की गई है।

छायावाद में मुख्य रूप से लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक-विधान तथा अलङ्कारों के स्थान पर अन्योक्ति, समासोक्ति आदि का व्यवहार हुआ है। प्राचीन भाषा का प्रयोग न करके कवियों ने संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग किया है तथा प्रतीकमयी भाषा का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है। इन कवियों ने मानवीकरण का प्रयोग करते हुए भी यत्र-तत्र सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रसाद जी द्वारा प्रस्तुत एक चित्र देखिए—

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी।

प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में,
मान किए सी ऐंठी सी ।।

छायावादी कवि चित्रात्मकता पर बड़ा बल देते हैं। सुहागरात्रि में प्रियतम पास अभिसारार्थ जाने वाली नायिका का कितना सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित उर मृदु पुलकित गात।
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित पद नमित पलक दृक्पात ।।

छायावादी काव्य से पूर्व काव्य में छन्दों के अनिवार्य बन्धन थे परन्तु छायावादी कवियों ने उन बन्धनों को दूर हटाकर सर्वथा नवीन प्रकार के स्वतन्त्र छन्दों का आविष्कार कर लिया। इन छन्दों के आधार ताल और लय तो थे ही कहीं-कहीं पर कलात्मकता का आग्रह भी था।

छायावादी कवियों के जीवन में वाह्य परिस्थितियों का इतना अधिक संघर्ष आकर उपस्थित हो गया कि वे उससे ऊबकर ही छायावादी काव्य लिखने लगे थे। उनके जीवन में निराशा के उद्‌भूत होने के कारण पृथक-पृथक थे तो भी उन्होंने अपनी व्यथाओं को अज्ञात के प्रति समर्पित कर दिया है। महादेवी वर्मा अपना परिचय देती हुई स्वयं कहती हैं—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोना-कोना, कोई न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली ।।

उनका जीवन विरह का कमल है, इसीलिए उसमें जलविन्दु सदृश अश्रु विद्यमान हैं।

अधिक विस्तार में न जाकर हम महादेवी, प्रसाद तथा पन्त के काव्य-गत उद्धरण देकर इस विषय को स्पष्ट करने का पुनः एक प्रयास करते हैं यथा :—

(१) अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली ।।

(महादेवी वर्मा)

(२) जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति सी आई।
दुर्दिन में आंसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥

(प्रसाद)

(३) कहो कौन हो दमयन्ती सी,
तुम तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि! नल सा निष्ठुर कोई॥

(पन्त)

प्रथम उद्धरण में महादेवी वर्मा प्रिय के विरह में अपने प्राणों को ही जलाए डाल रही हैं, द्वितीय उद्धरण में प्रसाद जी के आँसू जिस विरह-वेदना के कारण प्रवाहित हुए हैं कतिपय विद्वान उसे छायावादी मानते हैं तथा तृतीय उद्धरण में पन्त जी ने प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में (यहाँ तक कि छाया में भी) चिन्ता के चिन्ह देखे हैं। इन सभी उद्धरणों को देखने से यह पता चलता है कि कवियों ने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को ही कल्पना का आवरण देकर नए रूप में प्रस्तुत किया है।

इस संघर्ष-प्रधान युग में प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। ऐसी दशा में यह आशा नहीं की जा सकती कि छायावाद स्थायी रह सकेगा। वर्तमान युग में तो प्रगतिवाद ही उन्नति कर सकता है।

---

१६. हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद

'प्रगति' शब्द का अर्थ है 'आगे बढ़ना'। 'स्थिरता' हमारी अप्रगतिशीलता का चिन्ह है। अतः जीवन में प्रगति के साथ ही साहित्य में प्रगति होना भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह स्मरणीय है कि मानव अब कल्पनालोक से लौटकर जीवन के कठोर कर्त्तव्य की ओर बढ़ रहा है। अतः काव्य में उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य में 'प्रगति' शब्द का व्यवहार सन् १९३६ ई० से हो रहा है। सन् १९३६ में बाबू प्रेमचन्द की अध्यक्षता में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का अधिवेशन हुआ था। उस समय उन्होंने यह कहा था कि लेखकों को चाहिए कि वे अपने साहित्य में केवल विरह और मिलन के ही चित्र अङ्कित न करें। साहित्यकारों को देश की आर्थिक उन्नति का भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को भी उपयोगिता की दृष्टि से देखने का प्रयास किया था।

प्रगतिवादी साहित्य का आधार मार्क्सवादी आलोचना है। मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि में साहित्य का कोई पृथक स्थान नहीं है। वह तो साहित्य को जीवन का यथावत् निरूपण मानता है। जीवन का झुकाव आर्थिक उत्थान की ओर होता है अतः साहित्य में भी आर्थिक समस्याओं के समाधान का प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा मार्क्सवादी मानते हैं। प्रारम्भ में काव्य का लक्ष्य सुख और दुख का चित्रण करना होता था। उसी के साथ कभी-कभी प्रकृति के चित्र भी प्रस्तुत किए जाते थे। वर्तमान समय में साहित्य पर धनिक वर्ग ने अपना अधिकार जमा लिया है अतएव साहित्य एक सीमित क्षेत्र में ही विचरण कर रहा है। प्रगतिवादी आलोचक साहित्य को घनिकों के हाथों से निकालकर श्रमिकों के हाथों में सौंपना चाहता है। समाज के सर्वाधिक दुखी श्रमिक वर्ग की भावनाओं का संवाहक बनकर प्रगतिशील साहित्य विश्व में नवीन-क्रान्ति उत्पन्न कर रहा है। वह दुखी और असहाय समाज को जगाकर उसमें नवीन चेतना भरता है। वह कहता है—

"ये भूखे कंकाल सिकुड़ते हैं सड़कों पर रातों में,
इनकी साँसें कब्र ढूँढ़ती हैं नित झंझावातों में।

ये बच्चे बीमार चिता में अर्ध जले मुर्दों से हैं,
दिया जायगा नव-विधान का छत्र इन्हीं हाथों में ।।"

प्रगतिवादी साहित्यकार देखता है कि निर्धनों का शोषण करके पूँजीवाद की अट्टालिकाएँ निर्मित की जा रही हैं। ऐसी दशा में नूपुरों की झनकार के लिए उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया। उसके समक्ष तो अर्थाभावों से पीड़ित दलित मानवता है जो नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करती हुई विनाश की ओर बढ़ रही है।

पूँजीपतियों या सामन्तों के द्वारा निर्माण कराए हुए विशाल भवन प्रगतिवादी साहित्यकार को अपनी ओर लेशमात्र भी आकर्षित नहीं कर पाते। साहित्यकार यह समझता है कि इन विशाल भवनों का निर्माण कराने के लिए अनेक निर्धन परिवारों का रक्त-शोषण हुआ होगा। उदाहरणार्थ शाहजहाँ द्वारा बनवाया हुआ ताजमहल प्रगतिवादी कलाकार के लिए नितान्त तुच्छ वस्तु है क्योंकि उसके निर्माण में श्रमजीवियों का रक्त बहाया गया था।

मिल मालिकों की बढ़ती हुई सम्पत्ति के साथ श्रमिकवर्ग के बढ़ते हुए कष्टों का अनुपात लगाना प्रगतिवादी साहित्यकार का प्रमुख ध्येय है। वह मिलमालिकों को चुनौती देता हुआ कहता है—

"अरे मिल मालिको ! अब इन्सान जागा है,
हमारी हड्डियों में खून का तूफ़ान जागा है।
तुम्हारी पाप की हस्ती मिटाने को,
हजारों वर्ष का सोया हुआ बलिदान जागा है ।।"

प्रगतिवादी कवि आदर्शवादी न होकर पूर्णतया यथार्थवादी है। वह जनता के स्वर को मुखरित करता है। पूँजीपतियों की अर्चना, वन्दना करना उसे पसन्द नहीं है। यही कारण है कि अब उसकी आस्था भगवान पर भी नहीं है और वह मानव के उत्थान के लिए ही चिन्तित है।

पन्त जैसा सुकुमार कवि भी जो कभी प्रकृति की गोद में विश्राम किया करता था समय के परिवर्त्तन के साथ ही अब प्रगतिवाद की ओर झुक रहा है।

प्रगतिवादी साहित्य का प्रधान लक्ष्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना है। उनके सिद्धान्त-प्रचार की शैली यह है कि वे एक ओर तो राष्ट्रीय कविताओं का प्रचार करते हैं और दूसरी ओर मार्क्सवादी विचारधारा का

समर्थन करते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार साहित्यकार देश की समस्त शासन व्यवस्थाओं के प्रति असन्तोष व्यक्त करता है, पूँजीवाद को मिटाने का यत्न करता है तथा श्रमिक एवं कृषक-वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है।

प्रगतिवादी कलाकार पुरातनता को किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकता। वह प्रत्येक क्षेत्र में नव-निर्माण करना चाहता है। उसे पूर्ण विश्वास भी है कि अब नव-निर्माण अवश्य होगा यथा—

"जर्जर मलयानिल से कब शीतल होते अंगारे।
बूढ़े सागर की लहरों से कटते नहीं किनारे॥
होगा नव निर्माण बदलनी होगी वस्तु पुरानी।
रोगी नीलाकाश पुरातन चंदा और सितारे॥"

प्रगतिवादी साहित्य पर कतिपय दोष भी लगाये जाते हैं। सर्वप्रथम दोष तो यही है कि उस साहित्य में सदैव निराशा का ही चित्रण किया जाता है। उसमें निराशा को आशा में बदलने की चेष्टा ही नहीं दीख पड़ती। इस के साथ ही उसमें स्थिरता होने के कारण भविष्य के लिए कोई भी संकेत नहीं है।

प्रगतिवादी साहित्य में यथार्थवाद का इतना अधिक महत्त्व है कि उसके कारण उसमें नग्न चित्रों का समावेश होने लगा है। यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है। कोई भी सभ्य समाज इसे सहन नहीं कर सकता।

साहित्य को प्रेम का प्रचारक होना चाहिए न कि घृणा और द्वेष का, परन्तु प्रगतिवादी साहित्य में प्रेम का स्थान गौण किन्तु घृणा और द्वेष का स्थान प्रधान हो गया है। यह अवाञ्छनीय है।

साहित्य में समन्वय की भावना प्रधान होती है जिसमें पूर्ववर्ती समस्त धाराओं का केन्द्रीकरण हो। अतः यदि प्रगतिवादी साहित्य पुरातनता तथा नूतनता का समन्वय करके अग्रसर हो सके तो अवश्य ही उसको महत्वपूर्ण स्थान मिल सकेगा।

———

१७. हिन्दी-गद्य का विकास

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक रूप पद्यमय है। विश्व की अन्यान्य भाषाओं के समान ही हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ भी पद्य से हुआ। इसका कारण यही हो सकता है कि मानव को पद्य की संगीतात्मकता से विशेष प्रेम रहा है। खड़ी बोली का विकास मुसलमानी दरबारों से सम्पर्क स्थापित होने के कारण ही हो सका था। हमारी बोलचाल की भाषा में फ़ारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग होने पर ही खड़ी बोली का ढाँचा खड़ा हो पाया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली के गद्य-साहित्य का कोई प्राचीन रूप ही नहीं है।

अन्वेषण करने पर कुछ ग्रन्थ ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें हठयोग और ब्रह्म-सम्बन्धी विषयों का निरूपण किया गया है। जटमल ने एक पुस्तक 'गोरा बादल की कथा' लिखी थी जिसमें शब्दों के तत्सम रूप उपलब्ध होते हैं यथा—"उस गाँव के लोग भी बहोत सुखी हैं, घर-घर में आनन्द होता है।" इसके अतिरिक्त उत्तर मध्यकाल में भी खड़ी बोली-गद्य की कतिपय पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषायोगवाशिष्ठ' इसी समय लिखा गया। इस ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त परिष्कृत है यथा—

"हे राम जी ! जो पुरुष अभिमानी नहीं हैं वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष नहीं करते, क्योंकि उनकी वासना शुद्ध है। मलिन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे।"

इसी काल में चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता नामक दो पुस्तकें भी लिखी गईं। इन पुस्तकों के रचयिता स्वामी गोकुलनाथ थे। इन पुस्तकों में उर्दू फ़ारसी के शब्दों का व्यवहार भी मिलता है। ये पुस्तकें ब्रजभाषा गद्य में हैं। उनमें प्रयुक्त गद्य का एक नमूना इस प्रकार है—

"सो नन्द ग्राम में रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मणशास्त्र पढ़ो हुतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो हतो ऐसो वाको नाम हतो।"

इन पुस्तकों के अतिरिक्त दौलतराम कृत पद्मपुराण का भाषानुवाद तथा नाभादासकृत 'अष्टयाम' में भी गद्य का विकसित रूप देखने को मिलता है। अष्टयाम में प्रयुक्त पण्डिताऊ भाषा का स्वरूप इस प्रकार है—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरण छुई प्रणाम करत भए। फिर भी राजाधिराज जू को जुहार करि के श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये।" एक अज्ञात राजस्थानी लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' तथा बैकुंठमुनि शुक्ल ने 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' नामक दो पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त ब्रजभाषा की एक पुस्तक सुरति मिश्र कृत 'वैतालपचीसी' मिलती है। इसी प्रकार किसी हीरालाल द्वारा रचित "आईने अकबरी की भाषा चयनिका" नामक पुस्तक भी मिलती है। इस काल तक अनेक लेखक गद्य-रचनायें लिखते रहे परन्तु योगवशिष्ठ की भाषा ही सर्वाधिक परिमार्जित है तो भी हम इतना कह सकते हैं कि इन गद्य-लेखकों ने आगे आने वाले लेखकों के लिए पृष्ठभूमि निर्माण करने का कार्य तो अवश्य ही किया।

आगे चलकर इंशा अल्ला खां, सदल मिश्र, लल्लूलाल तथा सदासुख लाल आदि ने हिन्दी-गद्य को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इन्हीं चार लेखकों को हिन्दी गद्य-साहित्य का जन्मदाता कहा जाता है। इन चारों लेखकों ने गद्य-साहित्य का निर्माण कथा-साहित्य के रूप में किया। मुन्शी सदासुखलाल ने 'सुख-सागर' लिखकर पण्डिताऊ भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों का व्यवहार भी हुआ है।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने क्रमशः 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतो-पाख्यान' नामक पुस्तकों का प्रणयन किया। ये दोनों विद्वान फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे और 'जान गिलक्राइस्ट' से प्रेरणा प्राप्त करके गद्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। लल्लूलाल जी की भाषा में उर्दू, संस्कृत तथा ब्रजभाषा के शब्द मिलते हैं। वह अनियन्त्रित एवं अव्यवस्थित भी हैं। सदल मिश्र की भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं साहित्यिक है। सैयद इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' नामक रचना एक नवीन उद्देश्य को सामने रखकर लिखी गई थी। वह उद्देश्य था "एक कहानी ऐसी कहिए जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।"

इन प्रारम्भिक गद्य-उन्नायकों के अतिरिक्त ईसाइयों ने भी हिन्दी-गद्य के प्रचार में पर्याप्त सहायता प्रदान की थी। इन लोगों ने 'चर्च मिशनरी सोसाइटी,' "नार्थ इण्डिया क्रिश्चियन ट्रैक्ट" तथा "बुक सोसाइटी" आदि संस्थाओं की स्थापना की। इन्होंने धार्मिक पुस्तकों एवं पैम्फलेटों में भी हिन्दी-गद्य का व्यवहार किया था। इनकी भाषा में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ थीं। इन्होंने बाइबिल के अनुवाद भी हिन्दी में किए परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था न कि हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि करना। इसी हेतु इनका प्रचार-कार्य उल्लेखनीय तो है क्योंकि उसके द्वारा थोड़े बहुत रूप में हिन्दी की सेवा अवश्य हुई परन्तु महत्त्वपूर्ण कदापि नहीं है।

राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें लिखवाईं। इन्होंने स्वयं भी "राजा भोज का सपना", "आलसियों का कोड़ा", "गुटका" तथा "योग वशिष्ठ के चुने हुए श्लोक" आदि पुस्तकें लिखीं। इन्होंने सरल भाषा का व्यवहार किया और उसमें उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग भी किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने 'सितारेहिन्द' की भाषा का विरोध करते हुए संस्कृतगर्भित भाषा का समर्थन किया उन्होंने "प्रजा हितैषी" नामक पत्र निकालकर तथा 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' का अनुवाद करके हिन्दी की महान् सेवा की। इनकी भाषा में देशज शब्दों का बहिष्कार होने के कारण कृत्रिमता का समावेश हो गया है तथापि वह सराहनीय है। हिन्दू-धर्म का प्रचार करने वाले महानुभावों में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, श्रद्धानन्द फुल्लौरी तथा नवीनचन्द्र राय आदि ने भी अनेक पुस्तकें लिखीं। इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी थी।

इस प्रारम्भिक विकास-काल में हिन्दी-गद्य का प्रचार तो हुआ परन्तु उसमें वृद्धि आगे चलकर ही हो सकी। इस निर्माण-काल में शैली का विकसित एवं परिमार्जित होना भी कैसे सम्भव था ?

भारतेन्दु युग में स्वयं भारतेन्दु के अतिरिक्त पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री बदरीनारायण चौधरी तथा राधाकृष्ण आदि लेखकों ने हिन्दी गद्य की सेवा अनेक रूपों में की। इस युग में मौलिक रचनायें भी लिखी गईं तथा अनुवाद भी किए गए मौलिक रचनाओं में गद्य की प्रायः सभी विधाओं पर कुछ न कुछ लिखा गया और अनुवादों में पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग तथा प्रसाद-युग में गद्य की विशेष उन्नति हुई। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास आदि ने हिन्दी की बड़ी सेवा की है तथा उच्चकोटि का गद्य-साहित्य प्रस्तुत किया है।

प्रसाद जी कवि तो थे ही सफल गद्यकार भी थे। उनके द्वारा भी गद्य का उच्च स्तर प्रस्तुत हुआ। इसके अतिरिक्त प्रसाद-युगीन साहित्यकारों ने साहित्य की नवीन अभिवृद्धि की है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध और आलोचना सभी क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति हो रही है।

---

१८. मुसलमानों की हिन्दी सेवा

भारत में आकर मुसलमानों का सम्पर्क हिन्दू जनता से हुआ और यहाँ की भाषाओं, रीतिरिवाजों एवं सामाजिक व्यवस्थाओं से भी उनका परिचय हुआ। फलतः ब्रजभाषा के मधुर काव्य की ओर उनका स्वाभाविक आकर्षण हो गया और कृष्ण के प्रेममय चरित्र ने उनका ध्यान सर्वाधिक आकर्षित किया। ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी एवं कृष्णभक्ति शाखा के भक्तिकालीन काव्य में मुसलमानों का योगदान कम नहीं है। रीतिकाल तथा आधुनिक काल में भी उन्होंने हिन्दी-सेवा की है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में अमीर ख़ुसरों ने अपनी पहेलियाँ तथा मुकरियाँ खड़ी बोली में लिखी थीं। इनकी भाषा में ब्रजभाषा के शब्द भी पाए जाते हैं यथा—

वह आवे तब शादी होय। उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागें वाके बोल। हे सखि ! साजन न सखि ढोल ॥

भक्तिकाल में आकर ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि कबीर ने भक्ति काव्य की वह सुन्दर धारा बहाई कि वह हिन्दी के अन्य कवियों के लिए दुर्लभ हो गई। यह मान लेने पर कि कबीर हिन्दू कवि न थे उपर्युक्त धारणा पुष्ट हो जाती है। उनके समान अक्खड़ और स्वाभिमानी कवि मिल सकना कठिन है। इनके काव्य में व्यंग्य तथा तीखी चुटकियाँ भी हैं और भक्ति-भावना-पूर्ण सरस उद्गार भी। इनमें काव्य का अनुसरण करके अनेक सन्त कवियों ने भी स्व-काव्य निर्माण की प्रेरणा प्राप्त की। धीरे-धीरे विशाल सन्त-साहित्य निर्मित हो गया।

इन कवियों के पश्चात् सूफ़ी-काव्य-धारा को प्रवाहित करने वाले कवियों का एक विशिष्ट वर्ग सामने आया जिसके नेता जायसी थे। जायसी ने प्रेमतत्व का विश्लेषण इतने मार्मिक एवं हृदयग्राही शब्दों में किया कि वे सदा के लिए अमर हो गए। उनके काव्य में लौकिक पक्ष तथा पारलौकिक पक्ष, हिन्दू तथा मुसलिम प्रेम-प्रणालियाँ दोनों ही का समन्वय वर्णित है।

जायसी की कीर्ति का आधार उनका महाकाव्य 'पद्मावत' है। अवधी-भाषा में लिखा हुआ यह प्रेमकाव्य हिन्दी-साहित्य में अपनी समता नहीं रखता इस काव्य-ग्रन्थ में कवि ने प्राचीन ऐतिहासिक कथा का थोड़ा सा आधार लेकर उसमें नवीन रीति से प्रेमतत्व का समावेश किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार का सरस एवं सजीव वर्णन प्रस्तुत करके उसने हिन्दी-काव्य में सर्वप्रथम प्रेम भावना को सफलतापूर्वक जगाया है। उनका सा प्रतीक-विधान बहुत कम कवियों में पाया जाता है। प्रेमकाव्य की परम्परा का पर्याप्त विकास भी हुआ और कुतुबन जैसे एकाध मुसलमान कवियों ने भी उसका अनुशीलन किया परन्तु काव्यगत श्रेष्ठता के विचार से जायसी से श्रेष्ठ कवि इस धारा में अन्य कोई नहीं हो सका। हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा काल में वीर काव्य की धारा प्रवाहित हुई थी परन्तु प्रेमतत्व की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित नहीं हो पाया था। यह कार्य प्रेमाश्रयी धारा के कवियों ने किया। इन कवियों ने अपने काव्य में शृङ्गार-रस के अतिरिक्त अन्य कई रसों का समावेश भी किय है।

रामभक्तिशाखा के कवियों ने राम के लोकमर्यादावादी रूप को ग्रहण किया था अतः मर्यादाबद्ध रूप की ओर आकर्षित होना सभी कवियों के लिए सम्भव नहीं था। इसके विपरीत कृष्णभक्तिशाखा के कवियों के काव्य में प्रेम के लिए अपरिमित क्षेत्र था। अतः मुसलमान कवियों ने कृष्णकाव्य को अपना आधार बनाया। इस काव्य-धारा में प्रवाहित होने वाले कवियों में रहीम, रसखान, सुजान तथा आलम आदि कवि प्रमुख हैं। रसखान कवि द्वारा रचित काव्य कृष्णप्रेम की मधुर अभिव्ञ्जना से पूर्ण है। वह कृष्ण के सम्बन्धित सभी पदार्थों से अपना अटूट प्रेम रखते थे इसीलिए मर कर ब्रजभूमि में जन्म लेने की अभिलाषा थी। उन्हें भी उन्हें करील की कुञ्जें इतनी अधिक आकर्षक प्रतीत होती थीं कि उनके समक्ष वे करोड़ों कलधौत के धाम उत्सर्ग करने में भी नहीं हिचके। उनकी उक्ति इस प्रकार है—

या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख
नन्द की धेनु चराय बिसारौं॥
रसखान कबौं इन नैनन सों
ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम
करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

यह तो उनका भक्तिभावना से परिपूर्ण सवैया है। उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाले सरस काव्य की रचना भी की है।उदाहरणार्थ—

भूल्यौ गेह काज लोकलाज मनमोहनी कौ,
भूल्यौ मनमोहन कौ मुरली बजाइबो।
देखु 'रसखान' दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चंद हाथनि दुराइबो।।
कालि ही कालिंदी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसकाइबो।
दोऊ परे पैंयां दोऊ लेत हैं बलैयां,
उन्हें भूलि गई गैयां इन्हैं गागरि उठाइबो।।

रहीम का कवि-हृदय अनेक ठेसें खाते-खाते कृष्ण की ओर उन्मुख हुआ था। अस्तु उन्हें जीवन की अनेक अनुभूतियों का स्वतः ज्ञान था। उन अनुभूतियों का काव्यमय चित्रण करके उन्होंने अपने काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। अपनी दानशीलता का निर्वाह होता हुआ न देखकर उन्होंने एक बार याचक को पत्र में यह लिखकर दिया था—

चित्रकूट महँ रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जा पर विपदा परति है, सो आवत यहि देस।।

कहते हैं कि याचक ने जाकर वह पत्र पन्ना-नरेश को दिया और पन्ना-नरेश ने रहीम के पत्र का आदर करते हुए याचक को आर्थिक सहायता प्रदान की रहीम बड़े भावुक कवि भी थे। शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति करते हुए वह कहते हैं—

सुभग बिछाय पलंगिया, अंग सिङ्गार।
चितवति बैठि तरुनियाँ, दै दृग द्वार।।

रहीम एक स्थल पर कहते हैं कि अनन्यभाव से प्रेम करने वाला प्रेमी अपने प्रियतम के अतिरिक्त कभी किसी ओर अपना ध्यान नहीं ले जाता। वह कहते है—

प्रियतम छबि नैनन बसी पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय।।

अन्य मुसलमान कवियों में रसलीन, आलम, पठान, सुलतान आदि प्रसिद्ध हैं। 'रसलीन' कवि का एक दोहा अधिक समय तक बिहारी का समझा

जाता रहा क्योंकि उसमें उच्चकोटि का चमत्कार है। वह दोहा इस प्रकार है—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इकबार॥

आलम कवि के छन्द भी अत्यन्त मधुर हैं। प्रोषितपतिका मध्याधीरा नायिका की एक उक्ति देखिए—

तड़पै तड़िता चहुं ओरन तें, छिति छाई समीरन की लहरें।
मदमाते महा गिरि-शृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरें॥
इनकी करनी बरनी न परै, सु गरूर गुमान न सों गहरें।
घन ये नभ मंडल में छहरें, घहरें कहुं जाइ, कहूं ठहरें॥

इसी प्रकार सैयद इंशा अल्ला खां ने "रानी केतकी की कहानी" लिख कर हिन्दी गद्य-साहित्य का सुन्दर प्रारम्भ किया। वर्तमान समय में भी अनेक मुसलमान कवि और लेखक हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को मुसलमान कवियों से इतना अधिक प्रेम था कि उन्होंने लिखा था—

'इन मुसलमान कविजनन पै,
कोटिन हिन्दू वारिए।'

अस्तु, मुसलमानों की हिन्दी-सेवा विस्मरणीय नहीं है।

---

१९. हिन्दी साहित्य को महिलाओं की देन

सृष्टि के आरम्भ से ही नारी पुरुष की सहयोगिनी रही है। पुरुष की कर्कशता को नारी अपनी मृदुता के द्वारा सरस बनाती रही है। दोनों का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध रहा है कि एक के अभाव में दूसरे की कल्पना करना ही व्यर्थ प्रतीत होता है। नारी के अधिकार और कर्त्तव्यों को घर की चहार-दीवारी के भीतर बन्द करके रखना उसके साथ अन्याय करना है। नारी-जाति में भी ऐसे विशिष्ट गुण पाए जाते हैं जिनके द्वारा वह पुरुष-वर्ग से सहज ही में समानता प्राप्त कर सकती है ऐसी दशा में उसके अधिकारों को सीमित करके उस पर इस प्रकार के अंकुश लगाना कहाँ तक उचित है ? नारी-वर्ग ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है उस पर विचार करना भी नितान्त आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य के वीरगाथाकाल में नारी को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। वह पूर्णरूप से घर के भीतर वन्दिनी थी। काव्य-रचना के लिए तदनु-कूल वातावरण की भी आवश्यकता होती है परन्तु इस काल की नारी को वह अप्राप्य था। सम्भव है चारणों की पत्नियों ने गीतों की रचना की हो परन्तु उन सभी की रचनाएं अस्तव्यस्त एवं अप्राप्य हैं। धीरे-धीरे वीरगाथा काल समाप्त हुआ और भक्तिकाल ने पदार्पण किया। भक्तिकाल में आकर नारी को कुछ अधिक स्वतन्त्रता मिली और शान्तिपूर्ण वातावरण प्राप्त होने के कारण उसने काव्य-रचना की ओर ध्यान दिया।

भक्तिकालीन कवियित्रियों में निर्गुण-सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाली कतिपय कवियित्रियाँ सहजोबाई तथा दयाबाई आदि हुईं परन्तु उनके काव्य का महत्त्व नहीं के बराबर है। वे भक्त कवियित्रियां कबीर आदि ज्ञानाश्रयी शाखा के निर्गुण भक्त कवियों के पदचिन्हों पर चलकर मुख्यरूप से प्रचारात्मक साहित्य का ही सृजन कर सकी हैं। इस दृष्टि से यदि हम मीरा को ही सर्वप्रथम कवियित्री कहें तो अनुचित न होगा। मीरा पर कृष्णभक्त कवियों का प्रभाव था। उन्होंने कृष्ण के प्रेम में विभोर होकर काव्य-रचना की है। उनके काव्य में 'प्रेम की पीर' का भी चित्रण हुआ है। इसको देखकर ही

यदि कोई कवि उनके काव्य को शृङ्गारिक कहने लगे तो यह सर्वथा अनुचित होगा। इसी प्रकार उनके पदों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों को खींचकर यदि कोई अश्लीलता की ओर ही ले जाना चाहे तो उसका यह प्रयत्न उपहासजनक होगा। अन्य कवियों ने प्रियतम का मिलन दिखाते समय सात्विक भावों की जो योजना की है वह शृङ्गार-रस के अन्तर्गत आती है परन्तु मीरा का प्रिय-मिलन भक्त के हर्षातिरेकपूर्ण हृदय की पवित्रता से मिलकर भक्ति की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करता है।

रीतिकाल में नारी स्वयं काव्य का विषय बन गई थी तथा उस पर विलासिता का रंग चढ़ाया जा रहा था इसीलिए वह स्वयं काव्य-रचना की ओर अग्रसर न हो सकी। इस काल की कवियित्रियों में शेख़ कवि से हुए रंगरेज़िन के एक प्रश्नोत्तर में बड़ा वाग्वैदग्ध्य देखने को मिलता है यथा—

कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन।
कटि को कञ्चन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन॥

इसके पश्चात् 'ताज' नामक कवियित्री ने भी काव्य रचना की है। उसका यह छन्द भी प्रसिद्ध है—

"सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त हौं बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं॥
स्यामला सलौना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाग में निदाग ही दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं हूँ मुगलानी हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं॥

समय के परिवर्तन तथा अँगरेजी सभ्यता के प्रभाव से देशवासियों में राष्ट्रभक्ति की भावना उदय हुई। फलतः कवियित्रियों ने भी राष्ट्रीयता से ओतप्रोत रचनाएँ करनी प्रारम्भ कीं। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की "झाँसी वाली रानी" शीर्षक कविता ऐसी ही है। वह कहती हैं—

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
दूर फ़िरंगी के करने की सबने मन में ठानी थी॥
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी।
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी॥

चमक उठी सन सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी।।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी।।

सुभद्राकुमारी चौहान की उपर्युक्त वीर रस पूर्ण ओजमयी कविता के अतिरिक्त अनेक अन्य कवियित्रियों की कविता ने भी सरस काव्य-धारा प्रवाहित कर दी। इन कवियित्रियों में सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती 'कोकिल', चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' तथा उषा देवी मित्रा आदि हैं। उपर्युक्त समस्त नामों के अतिरिक्त एक नाम महादेवी वर्मा का भी है। कहना न होगा कि महादेवी वर्मा का काव्य अनेक ऐसी विशेषताओं से युक्त है जो हिन्दी की किसी भी कवियित्री में नहीं मिलतीं। नीहार, नीरजा, सान्ध्यगीत, यामा तथा दीपशिखा आदि उनके काव्य-संग्रह हैं। उन्होंने गद्य की सेवा भी की है और उनके गद्य लेखन की कला स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ तथा अतीत के चलचित्र आदि में देखने को मिलती है। उनका गद्य में भी काव्य का सा स्पर्श रहता है।

आलोचना के क्षेत्र में डा० किरन कुमारी गुप्ता, डा० सरला शुक्ला, डा० रतनकुमारी तथा डा० उषा पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त सभी लेखिकाओं ने विभिन्न विश्वविद्यालयों को अपने शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके डाक्टरेट की पदवी भी प्राप्त की है। हिन्दी की प्रगति में यदि नारी-वर्ग समुचित सहयोग प्रदान करे तो उसकी पर्याप्त उन्नति हो सकती है।

---

२०. महाकाव्य का स्वरूप-विधान

महाकाव्य हमारी भावनाओं और जीवन की अनुभूतियों के प्रकाशन का माध्यम है। जीवन की सर्वाङ्गीणता का दर्शन कराता हुआ महाकाव्य समस्त राष्ट्र और जाति की संस्कृति का प्रतीक होता है। महाकाव्य के इस महत्त्वपूर्ण स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के हेतु हमारे प्राचीन काव्याचार्यों ने कुछ प्रयास किया था। इस प्रकार का प्रयास करने वाले विद्वानों में सर्वप्रथम स्थान 'भामह' का है। तत्पश्चात् दण्डी एवं भोजराज आदि ने भी इसकी महत्ता पर विचार किया है। इन सभी विचारकों में आचार्य विश्वनाथ का मत विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने 'साहित्यदर्पण' नामक साहित्य-ग्रन्थ में महाकाव्य के लक्षणों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार महाकाव्य में सर्गबद्ध प्रबन्ध होना चाहिए। उसका नायक देवपुरुष या सद्वंशोत्पन्न धीरोदात्त पुरुष होना चाहिए। उसकी कथा इतिहास में प्रसिद्ध अथवा सदाचार विषयक होनी चाहिए। महाकाव्य में प्रयुक्त रसों में से शृङ्गार, वीर और शान्त रसों की प्रधानता तथा अन्य रसों की गौणता होनी चाहिए। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसमें सन्ध्या, प्रभात, सूर्य, चन्द्र, रजनी, बन तथा पर्वतादि का वर्णन भी हो। अन्त में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में एक फल की प्राप्ति होनी भी आवश्यक है। संक्षेप में कथावस्तु, नायक, रस और उद्देश्य इन चार बातों पर विशेष रूप से बल दिया गया है। यदि आवश्यकताओं की दृष्टि से विचार करें तो प्रत्येक महाकाव्य की ये ही वस्तुएँ मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि महाकाव्य की कथावस्तु यदि ऐतिहासिक है तो उसके द्वारा साधारणीकरण में सुगमता होगी। इसी प्रकार नायक में जिन गुणों की अपेक्षा की गई है वे सभी गुण नायक को लोकानुरञ्जक एवं लोक प्रचलित होने में सहायता करेंगे। शृङ्गार, वीर एवं शान्त रसों की व्यापकता एवं विश्वजनीनता प्रसिद्ध ही है। इतना ही नहीं महाकाव्य के उद्देश्यों में भी लौकिकता और पार-लौकिकता का मिश्रण करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार के अनेक

महाकाव्य रामायण, रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीयम्, शिशुपाल-वधम्, नैषधीयचरितम् तथा 'सौन्दरानन्द' आदि हैं। इन सभी रचनाओं में महाकाव्य के नियमों का पालन बड़ी सफलता के साथ किया गया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी महाकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने विचार भारतीय काव्यशास्त्रियों के समान ही व्यक्त किए हैं तथापि उनके विचारों की दिशा भारतीय विचारकों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य (Epic) की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार अरस्तू (Aristotle) ने व्यक्त किए हैं। उसके अनुसार महान पात्रों का समावेश तथा उनके कार्यों के पुनःकरण का चित्रण ही महाकाव्य का प्रधान गुण है। स्पेन्सर (Spencer) के अनुसार महाकाव्य के नायक को सद्वंशी तथा सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। एबरक्राम्बी (Abercrombie) महाकाव्य में एक ऐसी कथा का होना अनिवार्य रूपेण आवश्यक मानता है जो परम प्रचलित हो। उसकी मुख्य कथा में यथार्थता होनी चाहिए कोरी काल्पनिकता नहीं। इस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रधान गुणों में से उसका वृहदाकार तथा प्रकथन-प्रधान काव्य होना है। इसके नायक में असाधारण गुणों का होना तथा उसमें जातीय-भावना का समावेश होना परमावश्यक है। इसकी वर्णन-शैली में अपूर्वता होनी चाहिए।

पाश्चात्य महाकाव्यों में होमर कृत 'इलियड' तथा 'ओडेसी' भारतीय साहित्य के 'महाभारत' के समान ही विशालकाय हैं। इसी प्रकार दांते कृत "डिवाइन कामेडी" (Divine Comedy) में जीवन के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया गया है। मिल्टन द्वारा लिखित "पैराडाइज़ लास्ट" अपनी ऐतिहासिक कथा के लिए विख्यात है। इसी प्रकार गेटे कृत 'फ़ाउस्ट' में महाकाव्य की आधुनिकतम विशेषताएँ पाई जाती हैं। इन महाकाव्यों में व्यष्टि के स्थान समष्टि का ध्यान अधिक मात्रा में रक्खा गया है।

भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यों में कतिपय समानताएँ भी हैं। दोनों ही साहित्यशास्त्री महाकाव्य की मुख्यकथा की ऐतिहासिकता को अनिवार्यता प्रदान करते हैं तथा दोनों ही नायक में कतिपय विशिष्ट गुणों की उपस्थिति को भी आवश्यक मानते हैं। दोनों के सिद्धान्तों में यही अन्तर है कि भारतीय काव्यशास्त्री जातीयता को व्यक्तित्व से इतना बड़ा नहीं मानते जबकि पाश्चात्य विद्वान जातीयता को ही प्रधान मानते हैं व्यक्तित्व को

अप्रधान। भारतीय महाकाव्यों में नायक के सबल व्यक्तित्व में ही जातीयता की भावना का होना भी मान लिया गया है परन्तु उसका पृथक समावेश करना उचित नहीं समझा गया।

हमारे यहाँ पर नायक के कार्यों की अन्तिम सफलता पूर्व-निश्चित रहती है परन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक की सफलता पूर्व-निश्चित नहीं रहती। इतना ही नहीं भारतीय नायक केवल आदर्शोन्मुख ही दिखलाया जाता है जबकि पाश्चात्य नायक लघु-कार्यों की ओर उन्मुख भी दिखाया जा सकता है। दोनों ही काव्य-सिद्धान्तों में नियति का समावेश आवश्यक समझा जाता है तो भी दैव-विधान में सामान्य भेद है।

अन्य लक्षण-ग्रन्थों के समान महाकाव्य के लक्षण भी युग की आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि यदि आधुनिक महाकाव्यों को प्राचीन काव्य-कसौटी पर कसकर देखा जाय तो कोई भी महाकाव्य खरा नहीं उतर सकता। प्राचीन महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया गया। यही कारण है कि उनमें मानव-चरित्र का क्रमिक विकास देखने को नहीं मिलता है। उसमें कुछ निर्दिष्ट आदर्शों की स्थापना में ही चरित्र-चित्रण की इति समझी जाती थी। आधुनिक काल में 'मानव' ही साहित्य का मुख्य विषय है। जिस महाकाव्य में मानवीय सत्ता की गम्भीर विवेचन तथा मानवीय समस्याओं का समाधान होगा वही महाकाव्य उच्चकोटि का होगा। इस दृष्टिकोण को अपने समक्ष रखकर ही आज के महाकाव्य लिखे जा रहे हैं।

मानव-चरित्र में जहाँ एक ओर गुण होते हैं वहीं दूसरी ओर उसमें दोष भी होते हैं। अतएव मानव के चरित्र की दुर्बलताओं का चित्रण करता हुआ जो चरित्र-विकास दिखलाया जाता है वही सर्वश्रेष्ठ होता है। उस चरित्र में ही यथार्थता और पूर्णता होती है। इसीलिए जो नायक मानवता के कल्याणार्थ प्रयत्नशील रहता है वही सच्चे अर्थों में महाकाव्य का नायक कहलाने का अधिकारी है।

आज के महाकाव्य का नायक होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उच्चवंशीय ही हो। सामान्य स्तर के मनुष्य (जिनमें कृषक तथा मज़दूर आदि सम्मिलित हैं) अब महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। इसी प्रकार

बीरता के प्रचीन आदर्श भी अब बदल चुके हैं और नवीन आदर्शों में अहिंसात्मक शक्ति के कारण नवीनतम परिवर्तन आ गया है। इस प्रकार महाकाव्य के नायक में पूर्ण परिवर्तित आदर्शों की स्थापना अब सम्भव हो सकी है।

प्राचीन महाकाव्यों में अतिप्राकृत या दैवी तत्वों का समावेश अनिवार्य रूप से आवश्यक समझा जाता था परन्तु वर्तमान युग में विज्ञान ने अपना अधिकार इतना अधिक मात्रा में जमा लिया है कि दैवी शक्तियों के द्वारा हस्तक्षेप किए जाने की सम्भावना लगभग नहीं के बराबर ही रह गई है।

महाकाव्यों के कथानक का प्रशस्त और गम्भीर होना अनिवार्य है। इसी के साथ कलाकार की विदग्धता, जीवन की सूक्ष्म एवं कलात्मक अभिव्यक्ति एवं भावों का सूक्ष्म विश्लेषण सभी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रसाद जी ने ठीक लिखा है—"सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"

हिन्दी के महाकाव्यों का इतिहास विलक्षण है। वीरगाथाकाल में विरचित 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य में महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह तो किया गया है परन्तु जीवन के केवल कुछ सीमित पहलुओं पर ही विचार किया गया है। इसके पश्चात् भक्तिकाल में रचित सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरितमानस' है। इसमें भी उदात्त भावनाओं का समावेश बड़ी सफलता के साथ किया गया है। यह महाकाव्य नैराश्य-पीड़ित हिन्दू-जनता को आज भी उसी प्रकार प्रेरणा और बल प्रदान करता है जिस प्रकार अपने रचना-काल में करता था।

आधुनिक काल में साकेत, प्रियप्रवास तथा कामायनी आदि महाकाव्य लिखे गए हैं। इन समस्त महाकाव्यों में 'कामायनी' का अपना महत्त्व है। उसमें मानवता के जनक मनु की कथा का वर्णन बड़े ही सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मानव-मन का विश्लेषण करते हुए इस महाकाव्य के द्वारा युग-विधान की शक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

महाकाव्य में शैलीगत वे समस्त विशेषताएँ तो होती ही हैं जो किसी भी काव्य में अपेक्षित हैं साथ ही कतिपय अन्य मौलिक नूतनाएँ भी होती हैं जो उसे विशेष महत्त्व प्रदान करती हैं। महाकाव्यों की रचना पद्य में ही

होती आई है तो भी यह धारणा भ्रान्त है कि महाकाव्य केवल पद्य में ही लिखे जा सकते हैं गद्य में नहीं। यदि व्यापकता, विशदता, सर्वाङ्गीणता, उपादेयता, रोचकता, मार्मिकता एवं यथार्थता आदि का समावेश उपन्यास में हो तो उसे भी उपन्यास-महाकाव्य (Epic novel) कहा जा सकता है।

महाकाव्य किसी युग-विशेष का ही न होकर एक नवीन-युग का निर्माण भी करता है। इस दृष्टि से उसका महत्त्व अक्षुण्ण है।

———

२१. हिन्दी भाषा का विकास

सामाजिक सभ्यता के विकास के साथ ही हमारी भाषा में भी विकास उत्पन्न होता है। कोई समय था जबकि मानव सभ्यता के प्राचीनतम उपकरणों के सहारे अपने जीवन व्यापारों को चलाता था। शनैः शनैः प्रगति होती गई और वह स्थिति आ पहुँची जबकि यन्त्रयुग की आवश्यकताओं ने उसे आ घेरा। आज की सभ्यता की तुलना यदि हम द्रविड़ सभ्यता से करें तो महान् अन्तर मिलेगा। विज्ञान के अभिनव आविष्कारों ने तो मानव को स्वर्गलोक के स्वप्न देखने के लिए विवश कर दिया है। अब वह कभी चन्द्रलोक में बसने की कल्पना करता है तो कभी ग्रह-लोकों में। इस सभ्यता के विकास में हमारे सांस्कृतिक बीज रहते हैं जिनमें सभ्यता के समान क्षणिक परिवर्त्तन नहीं आते। भाषा का उदय संस्कृति से होता है। तो भी उस पर सभ्यता का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है।

उदाहरणार्थ सभी देशों की हर्ष एवं शोक मनाने की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं अतः किसी एक तुलाधार पर रखकर समस्त देशों की प्रथाओं का सिंहावलोकन नहीं किया जा सकता इतना वैषम्य होने पर यह कैसे सम्भव है कि उन हर्ष या शोक के प्रकाशक शब्दों में ही एकतानता होगी ? अतः यह भाषागत वैषम्य सभ्यताओं के प्रभाव से ही उत्पन्न हुआ। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भाषा के विकास में सभ्यता के विकास का प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी भाषा के विकास पर विचार करते समय सामान्य रूपेण हमारी दृष्टि उसके विकास की तीन अवस्थाओं पर पड़ती है। हम इसके विकास का प्राचीनकाल सन् १५०० ई० तक मान सकते हैं। इस समय तक हिन्दी की बोलियाँ अपना निश्चित स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी थीं तथा अपभ्रंश एवं प्राकृत भाषाओं का उस पर पर्याप्त प्रभाव था। इसके पश्चात् सन् १५०० ई० से सन् १८०० ई० के मध्य का समय आता है। इस समय हिन्दी की बोलियाँ (खड़ी बोली, अवधी तथा व्रजभाषा) अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर चुकी

थीं और उन पर से अपभ्रंश तथा प्राकृत का प्रभाव पूर्ण रूप से हटने लगा था। तत्पश्चात् सन् १८०० ई० से हिन्दी भाषा का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है। इस समय हिन्दी की अन्य बोलियों का प्रभाव समाप्त होकर एकमात्र खड़ी बोली की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल में देश की राजनैतिक दशा अव्यवस्थित थी। भारत में प्रधान रूप से तीन राज्य अजमेर, दिल्ली और कन्नौज थे। इन तीनों राज्यों में अजमेर तथा दिल्ली दरबारों में क्रमशः नरपति नाल्ह तथा चन्द बरदाई कवियों ने हिन्दी का प्रचार तथा परिष्कार किया तथापि उनकी भाषा में हिन्दी का खिचड़ी रूप ही देखने को मिलता है। डिंगल तथा पिंगल दोनों भाषाओं के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही हैं। साथ ही अन्य प्रान्तीय भाषाओं तथा अरबी, फारसी, के शब्दों का भी पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया गया है। कन्नौज दरबार में श्री हर्ष ने संस्कृत का प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधीय चरित' लिखा इससे यह तो प्रमाणित होता है कि उस राज्य में संस्कृत भाषा का पर्याप्त प्रचार था परन्तु हिन्दी भाषा की स्थिति के सम्बन्ध में पर्याप्त सन्देह है।

इन राज्यों का पतन तथा विदेशी शासकों की विजय ने समस्त देश पर पराधीनता का वातावरण उत्पन्न कर दिया और देश की भाषा और धर्म दोनों पर कुठाराघात होने लगे। ऐसी परिस्थिति में भाषा के विकास की बातें सोचने तक के लिए किसी के पास अवकाश नहीं था। विदेशी शासकों की मातृभाषा तुर्की तथा दरबारी भाषा फारसी थी अतः उन्होंने अपनी भाषाओं को फैलाने का प्रयत्न किया। इस काल के साहित्य में अमीर ख़ुसरो की पहेलियाँ तथा मुकरियाँ मिलती हैं जिनसे भाषा के प्राचीन स्वरूप का कुछ आभास लगाया जा सकता है। अन्य प्रकार का साहित्य अन्धकार में ही है। राहुल सांकृत्यायन तथा डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने हिन्दी के प्राचीन साहित्य की खोज की है परन्तु उन कवियों की वर्तमान रचनाओं का समय निश्चित कर सकना कठिन है। सिद्धों की प्रारम्भिक कृतियाँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं। इस प्रकार की रचनाओं का परिचय हरप्रसाद शास्त्री कृत 'बौद्धगान दोहा' नामक संग्रह-ग्रन्थ से मिलता है। इसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में अन्वेषण कार्य करते हुए स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' के जो नमूने प्रस्तुत किए हैं उनकी भाषा में प्राचीन हिन्दी के

शब्द कम परन्तु गङ्गा की घाटी के प्रदेशों में बोले जाने वाले शब्दों के रूप अधिक मात्रा में मिलते हैं।

इस प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में अपभ्रंश भाषा के शब्द इतनी अधिक मात्रा में मिलते हैं कि इस काल की भाषा को अपभ्रंश कहना भी अनुचित न होगा। इस काल के प्रमुख लेखकों में चन्दवरदाई, अमीर खुसरों, विद्यापति तथा कबीर आदि को माना जा सकता है। चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराजरासो ज़िस रूप में प्राप्त होता है उसकी प्रामाणितता के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। उसमें ब्रजभाषा, अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का एक साथ प्रयोग मिलता है। भाषा की अनेकरूपता के कारण ग्रन्थ कहीं-कहीं दुरूह हो गया है। विद्यापति के गीतों की भाषा में बंगलातथा मैथिली भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। विद्यापति ने स्वयं अपनी भाषा को 'अवहट्ट' नाम दिया है।

कबीर की भाषा का स्वरूप सधुक्कड़ी भाषा का है। उसमें अनेक प्रान्तों में बोले जाने वाले शब्दों की भरमार है। कबीर के काव्य के कई ऐसे संग्रह मिलते हैं जिनकी भाषा में पंजाबी भाषा के शब्द पाए जाते हैं।

इसी प्रकार दक्षिणी हिन्दी साहित्य का विकास दक्षिण में मुहम्मद तुग़लक के आक्रमण से हुआ। बीजापुर तथा गोलकुण्डा के शासकों ने भी इस साहित्य के प्रचार में योगदान दिया। सूफ़ी तथा सन्त कवियों ने भी इस साहित्य के प्रचार में सहायता दी। यह साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित होने जा रहा है।

विकास के मध्यकाल में देश में शान्ति एवं समृद्धि थी। मुग़लों के शासन ने देश में कला-कौशल एवं साहित्य की उन्नति को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। इस काल में अवधी तथा ब्रज दोनों ही भाषाओं में काव्य-रचनाएं हुई। इस काल की रचनाओं में बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों के शब्द भी पाए जाते हैं।

आधुनिक काल में खड़ी बोली का विकास हुआ और गद्य तथा काव्य दोनों में ही पर्याप्त उन्नति हुई। इस काल के काव्य में ब्रजभाषा तथा अवधी का भी थोड़ा बहुत उपयोग किया जाता है। हिन्दी भाषा उत्तरोत्तर उन्नति की ओर बढ़ रही है। आधुनिक युग में समीक्षा साहित्य की भी पर्याप्त उन्नति हुई है।

---

२२. सूर-सूर तुलसी ससी

सूर और तुलसी दोनों ही महाकवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूर कृष्ण काव्यकारों में तथा तुलसी रामकाव्यकारों के मध्य में अपना सर्वोच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं। जिस प्रकार राम की तुलना कृष्ण से करना लाभ-प्रद नहीं (क्योंकि दोनों ही अवतार थे) उसी प्रकार सूर और तुलसी के काव्य की परस्पर तुलना करना असङ्गत प्रतीत होता है।

दो कवियों के काव्य की तुलना करते समय यह परमावश्यक प्रतीत होता है कि दोनों कवियों के काव्य को एक तुलाधार पर रखकर तोला जाय। इस दृष्टि से विचार करने पर हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ एक ओर सूर ने कृष्ण की सरस लीलाओं का ही वर्णन किया है वहीं तुलसी ने राम के जीवन की समस्त लीलाओं का वर्णन प्रस्तुत करके नए आदर्शों की कल्पना की है। इस प्रकार जहाँ एक ओर यह सन्देह होता है कि दोनों की तुलना हो भी सकेगी या नहीं वहीं जब हम यह मान लेते हैं कि दोनों ही कवि होने के साथ ही भक्त भी थे वहीं पर यह विश्वास दृढ़ होता है कि दोनों कवियों को तुलना के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

सूर तथा तुलसी दोनों ही महाकवियों का आविर्भाव एक ही समय में हुआ था। दोनों ही कवि भक्ति की पावन भूमि पर एक समान ही दृढ़ता-पूर्वक खड़े थे। दोनों में यदि अन्तर था तो केवल यही कि तुलसी अपने इष्टदेव की उपासना दैन्य भाव से करते हैं जबकि सूर की भक्तिभावना में सख्य भाव का प्राधान्य है। दैन्य भावना का अनुसरण करने के कारण तुलसी अपने इष्टदेव के समक्ष अपने हृदय की समस्त बातें प्रस्तुत कर देते हैं उधर सूर की भावना में एक सखा सा वाग्विनोद मिलता है। उस वाग्विनोद के सहारे वे भी अपने हृदय में छिपी हुई कथाओं को प्रभु के समक्ष रखते हैं परन्तु उनके कथन में विलक्षण वाग्चातुर्य दिखाई पड़ता है।

सूर तथा तुलसी दोनों ही मूल रूप में निर्गुण परमात्मा के प्रति अपनी श्रद्धा तथा विश्वास प्रगट करते हुए भी सगुण की ही उपासना करते हैं।

दोनों ने ही सगुण उपासना की ओर प्रवृत्त होने के कारणों का विश्लेषण किया है जो लगभग एक समान हैं। सूरदास स्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य होने के कारण भगवान के शैशव तथा यौवन की लीलाओं का गान करने में ही प्रवृत्त हुए। उन्होंने पार्थिव संसार से हटकर भगवान के दिव्य स्वरूप का दर्शन बड़े ही हृदयग्राही रूप में किया है। उनका आत्मविश्वास कितना दृढ़ है—

बांह छुड़ाए जात हौ, निबल जानि कै मोंहि।
हिरदै ते जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोंहि।।

वात्सल्य और शृङ्गार-रस में डूबकर उन्होंने ऐसी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं कि वे देखते ही बनती हैं। इतना होने पर भी सूर ने कृष्ण के उस रूप का चित्रण नहीं किया जिसके कारण उन्हें लोकरक्षक या मर्यादापुरुषोत्तम कहा जा सकता है। इस अभाव की पूर्ति तुलसी ने की। तुलसी रामानुजाचार्य के शिष्य थे। उन्होंने राम के लोकपावन तथा लोकरक्षक रूप की उपासना की है। इस प्रकार राम का मर्यादावादी स्वरूप चित्रित करके उन्होंने संसार को अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

ईश्वर की प्राप्ति में माया बाधा डालती है। भक्ति ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। जिस प्रकार नारी का आकर्षण नारी पर नहीं होता ठीक उसी प्रकार भक्ति और माया दोनों में एकता नहीं हो सकती। जीव को भटकाने वाली वस्तु माया है यदि वह न होती तो जीव तो परमात्मा का अनश्वर अंश था। यथा—

ईश्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन, अमल, सहज सुखरासी।।
सो मायाबस बंधेउ गुसाईं।
फिरै कीट मरकट की नाईं।।

इसी प्रकार मुक्ति की प्राप्ति का साधन भगवद्भजन है। कवि कहता है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवत बरियाई।।

सूरदास जी ने वैराग्य का त्याग तथा भक्ति का ग्रहण करने पर बल दिया है। अन्त में भक्त की मुक्ति दिखलाकर उसको गोलोक में कृष्ण के साथ बिहार करते हुये दिखलाया गया है। तुलसीदास जी केवल भक्ति की कामना करते हैं उन्हें मुक्ति की आकांक्षा नहीं है।

स्वामी वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने के पूर्व सूर की भक्ति में दैन्य था। वास्तव में यह दैन्य-भावना ही इष्टदेव की कृपा प्राप्त करने में सर्वाधिक सहायक होती है। वह कहते हैं—

चरन कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधरे को सब कुछ दरसाई॥

इसी प्रकार तुलसी भी भगवान पर आत्म-विश्वास रखते हुए कहते हैं—

काहे ते हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ संभारो॥

दोनों कवियों ने नवधा भक्ति को भगवत्प्राप्ति का साधन माना है। इतना होने पर भी तुलसी राम के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की उपासना भी करते हैं जबकि सूर कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता की उपासना करना उचित नहीं समझते। वह कहते हैं—

और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूर ने कृष्ण के जीवन की अनेक दशाओं का चित्रण इस प्रकार किया है कि उसमें मानव-मनोविज्ञान का समावेश अत्यन्त सफलतापूर्वक किया जा सका है। तुलसी मर्यादावादी होने के कारण यद्यपि मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं करते, तो भी उनका क्षेत्र सीमित और संकुचित ही है। वे परकीया नायिकाओं का चित्रण करने में असमर्थ हैं। उनके राम स्वप्न में भी परकीया नायिकाओं का स्मरण नहीं करते।

सूर श्रृङ्गार-रस के प्रत्येक अङ्ग अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों की योजना बड़ी मनोहरता से करते हैं। तुलसी ने नारी-सौन्दर्य का चित्रण नाममात्र को ही किया है वह भी सीताजी के रूप का विश्लेषण करते समय। इस प्रकार के स्थलों में भी मर्यादा का ध्यान रहता है। अस्तु, सूर की सी बिस्तृत श्रृङ्गार-रस-योजना उन्होंने नहीं की। सूर ने गोपियों के विप्रलम्भ श्रृङ्गार का वर्णन उद्धव के संवाद के सहारे बड़ी सफलता के साथ किया है। उनका भ्रमर-गीत विप्रलम्भ श्रृङ्गार का सुन्दर उदाहरण है।

सूर और तुलसी दोनों ने प्रकृति-चित्रण भी किए हैं। सूर का प्रकृति-चित्रण उद्दीपन की श्रेणी में तथा तुलसी का वर्णन अलङ्कारपूर्ण प्रकृति-

वर्णनों के श्रेणी में आते हैं। दोनों में एक अन्तर यह है कि सूर के प्रकृति वर्णनों में नीति और उपदेश का समावेश नहीं हुआ है जबकि तुलसी के वर्णनों में हुआ हैं।

सूर के अलङ्कार-प्रयोगों में कहीं-कहीं उनका प्रयत्न परिलक्षित होता है यथा 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' वाले पद में। तुलसी के काव्य में अलङ्कार स्वाभाविक-रूप में आए हैं। कवि को उन्हें लाने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा। सूर का काव्य केवल ब्रजभाषा में है जबकि तुलसी का का काव्य ब्रज तथा अवधी दोनों ही भाषाओं में उपलब्ध होता है।

जहाँ तक विषय-निर्वाचन एवं उसके निर्वाह का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि दोनों कवि समान रूप से सफल हुए हैं। सूर का क्षेत्र मुक्तक काव्य का तथा तुलसी का प्रबन्ध काव्य का है। दोनों ही कवि हिन्दी साहित्य के महारथी हैं, इसमें सन्देह नहीं। अपने-अपने क्षेत्र में कोई किसी से घटकर नहीं है। अतः दोनों का समान महत्त्व है। ऐसी दशा में "सूर-सूर तुलसी ससी" कहना उचित नहीं जंचता।